मान मंदिर बरसाना

● मासिक पत्रिका, वर्ष १०, अंक ०१ ● श्रीकृष्ण सं. ५२५१ ● 'पौष-माघ' वि.सं.२०८२ (जनवरी २०२६)

मूल्य १०/-

ब्रजरज रसिक परम विरक्त संत पद्मश्री परम पूज्य श्रीबाबामहाराज के प्राकट्योत्सव की झलकियाँ

(पौष, कृष्ण, सप्तमी)

(११ दिसम्बर २०२५)

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रसंग	पृष्ठांक
१	परम धन 'श्रीधाम'	०५
२	'भावनामय वपु' से वास्तविक धामवास	०७
३	'श्रीधाम' ही सच्चा साध्य	११
४	परम पूज्या-सेव्या 'गौमाता'	१३
५	श्रीभाव-दृष्टि से अनुभूति	१६
६	'सत्संग' से भाव-शोधन	१९
७	पाप का स्वरूप	२१
८	सूक्ष्म अपराध से भी पतन	२३
९	भजन के विघ्न	२८
१०	समत्व भाव से वास्तविक विजय	३२

परम पूज्यश्री रमेश बाबा महाराज जी द्वारा सम्पूर्ण भारत को आह्वान –
"मजदूर से राष्ट्रपति और झोंपड़ी से महल तक रहने वाला प्रत्येक भारतवासी विश्वकल्याण के लिए गौ-सेवा-यज्ञ में भाग ले ।"

*** योजना ***

अपनी आय से १ रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन निकालें व मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक अथवा वार्षिक रूप से इकट्ठा किया हुआ सेवाद्रव्य किसी विश्वसनीय गौसेवा प्रकल्प को दान कर गौरक्षा कार्य में सहभागी बन अनन्त पुण्य का लाभ लें । हिन्दूशास्त्रों में अंशमात्र गौसेवा की भी बड़ी महिमा का वर्णन किया गया है ।

INSTAAL करें --- PLAY STORE से----- MAANINI APP

बाबाश्री के सत्संग/कीर्तन/भजन, साहित्य, आदि यहाँ से

FREE - DOWNLOAD कर सकते हैं व सुन सकते हैं ।

श्रीमानमंदिर की वेबसाइट www.maanmandir.org के द्वारा आप प्रातःकालीन सत्संग का ८.३० से ९:३० बजे तक तथा संध्याकालीन संगीतमयी आराधना का सायं ६:०० से ८:०० बजे तक प्रतिदिन live व d-live प्रसारण देख सकते हैं ।

संरक्षक- **श्रीराधामानबिहारीलाल** , प्रकाशक – **राधाकान्त शास्त्री, मानमंदिर ,गह्वरवन, बरसाना, मथुरा** (उ.प्र.)
mob. **राधाकांत शास्त्री** ....9927338666, Website :www.maanmandir.org ,
(E-mail :info@maanmandir.org)

इस पत्रिका को आप google chrome पर जाकर सीधे free download कर सकते हैं आपको केवल इतना सर्च करना है- हमारे बारे में | मान मंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट (यहाँ से आप पत्रिका सीधे download कर सकते हैं)

विशेष:- इस पत्रिका को स्वयं पढ़ने के बाद अधिकाधिक लोगों को पढ़ावें, जिससे आप पुण्यभाक् बनें और भगवद्-कृपा के पात्र बनें । हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है – सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ । जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि।।(श्रीमद्भागवत ३/७/४१) अर्थ:- भगवत्तत्त्वके उपदेश द्वारा जीव को जन्म-मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है; समस्त वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादि से होनेवाला पुण्य उस पुण्य के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकता ।

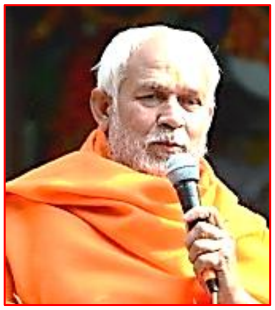

प्रकाशकीय

भक्त वही है जिसके मन में धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद इन मायिक चीजों का कोई महत्व नहीं होता है । जैसे - राजा बलि ने अपनी सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति 'भगवान्' को दे दी थी और अन्त में अपना शरीर भी दे दिया था । भक्त उसको कहते हैं जिसके सामने तीनों लोकों की लक्ष्मी रख दो, तीनों लोकों की सुख-सम्पत्ति रख दो, तीनों लोकों की भोग-सामग्री रख दो लेकिन वह उसकी याद भी नहीं करता कि सामने लड्डू का थाल आ गया या कौन अप्सरा खड़ी है । ये बात उसकी स्मृति में भी नहीं आती । भक्त आँखों से देखता तो है, ऐसा नहीं कि भक्त अन्धा हो जाता है, परन्तु देखने-देखने में अन्तर होता है । एक बच्चा अपनी माँ की गोद में नंगा पड़ा रहता है और उसकी माँ भी अपने सब वस्त्र खोल करके अपने स्तन से दूध पिलाती है । बच्चा अपनी माँ को नग्न अवस्था में देखता है लेकिन उसकी दृष्टि में भोग नहीं है । उसी तरह से भक्त लड्डू भी देखता है, अच्छी स्त्री को भी देखता है, लेकिन फर्क ये है कि उसकी स्मृति में ये बात नहीं आती है कि ये भोग है या ये सुंदर स्त्री है । जब मन स्वच्छ हो जाता है, तब सर्वत्र केवल परमात्मा ही दिखाई देता है ।

सनातन गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण प्रेम की पहिचान क्या है ? बोले – "श्रीकृष्ण प्रेम की पहिचान ये है कि श्रीकृष्ण प्रेम सब रागों से बलवान है । ये इतना बलवान है कि यदि ये आ गया तो संसार में फिर कहीं भी आसक्ति रह ही नहीं सकती । यहाँ तक कि फिर भगवान् के ऐश्वर्य रूप से भी मन हट जाएगा ।" इसी कारण गोपियाँ कहती हैं – **"कहा करैं बैकुण्ठहिं जाय ।"** हमें वैकुण्ठ से क्या काम ? हमें तो ये ही मधुर रूप चाहिए । प्रेम के बारे में कहा गया है कि श्रीकृष्ण में जब रति होती है तो हृदय की जितनी भी वासनायें हैं, जितने भी काम तत्व हैं वे सब जल जाते हैं; फिर वहाँ सांसारिक राग कहाँ से रहेगा? जब न रहेगा बाँस तो न बजेगी बाँसुरी । बाँस ही नहीं रहा तो बाँसुरी कहाँ से बजेगी ? कैसे ? बोले – राग का स्थान होता है चित्त (अन्तःकरण) । जब श्रीकृष्ण में रति हो जाती है तो जितना पंचकोष है इसे वह रति जला देती है । हम इसी मन से संसार में प्रेम करते हैं, इसी मन से भोग भोगते हैं, इसी मन से सब आसक्तियाँ करते हैं । सब का मूल है मन । गीता में भगवान् कहते हैं कि मन के आगे इन्द्रियाँ आदि कुछ नहीं । भागवत में भी भगवान् उद्धव से कहते हैं कि जितने भी देवता हैं ये सब मन के आधीन होते हैं, मन को कोई भी देवता वश में नहीं कर पाया । अत: समस्त देवों का देव वही है जिसने अपने मन को जीत लिया ।

"मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् ....स हि देवदेव: ॥" (श्रीभागवतजी ११/२३/४८)

परन्तु प्रभु-प्रेम इस मन को ही जला देता है तो फिर राग, आसक्तियाँ कहाँ रहेंगी? फिर तो इस मन में सिर्फ श्रीकृष्ण रति रह जायेगी । योगी लोग कहते हैं कि मन से अलग हट जाओ । भक्त कहते हैं कि झगड़ा करने की जरूरत नहीं है । मन को श्रीकृष्ण से स्पर्श करा दो तो मन अर्पण हो जाता है ऐसा है श्रीकृष्ण प्रेम । जब तक संसार के दुःख व्यापते हैं तब तक भगवान् से प्रेम नहीं है । कृष्णप्रेम होने पर तीन बातें होती हैं । 'एक' तो श्रीकृष्ण प्रेम बढ़ता रहता है कि कैसे श्रीकृष्ण को देखें, कैसे श्रीकृष्ण की बंसी सुनायी पड़े? 'दूसरा' कोई भी दुःख नहीं सताता, चाहे आग लग जाये, चाहे कोई बीमार हो जाये । अगर कृष्ण प्रेम है तो दुःख सता ही नहीं सकता उनको । 'तीसरी' सब आसक्तियाँ खत्म हो जाती हैं ।

कार्यकारी अध्यक्ष

राधाकान्त शास्त्री

श्रीमानमन्दिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

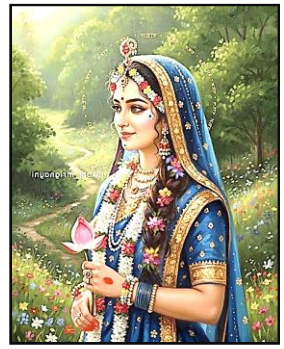

।। राधे किशोरी दया करो ।।

हमसे दीन न कोई जग में,

बान दया की तनक ढरो ।

सदा ढरी दीनन पै श्यामा,

यह विश्वास जो मनहि खरो ।

विषम विषय विष ज्वालमाल में,

विविध ताप तापनि जु जरो ।

दीनन हित अवतरी जगत में,

दीनपालिनी हिय विचरो ।

दास तुम्हारो आस और की,

हरो विमुख गति को झगरो ।

कबहुँ तो करुणा करोगी श्यामा,

यही आस ते द्वार पर्यो ।

परम धन 'श्रीधाम'

बाबाश्री के सत्संग (२६/१/१९९९) से संकलित

भावाभिव्यक्ति –
अध्यक्ष – डॉ. श्रीरामजीलालजी शास्त्री,
श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

श्रीराधासुधानिधिकार कहते हैं – **वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद् वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेतः ॥ सत्तारणीकृत सुभाव सुधारसौघं राधाभिधानमिह दिव्य निधानमस्ति ॥** (श्रीराधासुधानिधि - ८)

श्रीब्रजभूमि की सच्ची शरणागति (अखण्ड निवास करने) के लिए बड़े-बड़े महापुरुषों का आश्रय छोड़कर श्रीधाम का आश्रय करो क्योंकि यहाँ 'श्रीराधिकारानी' विराजती हैं और यहाँ रहने मात्र से राधिकारानी की प्राप्ति हो जाती है । इस धाम में आज भी श्रीजी-ठाकुरजी की नित्य लीला चल रही है । यह वही ब्रज है परन्तु हमारे भीतर भावदृष्टि नहीं है । धाम तो वही है परन्तु धाम का स्वरूप हमारे सामने नहीं आ रहा है; क्योंकि हमारे अन्दर धाम के प्रति असली आस्था, निष्ठा व प्रेम नहीं है । 'भगवान् के धाम' की तरह 'भगवान् का नाम' भी है । श्रीभगवान् का नाम अनन्त शक्ति से सम्पन्न है । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में कहा है –

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥ (श्रीशिक्षाष्टक - २)

भगवान् के जितने भी नाम हैं, उन सबमें भगवान् की शक्तियाँ हैं । 'निजसर्वशक्तिः' – 'सर्व' माने अनन्त शक्ति है । जिस तरह भगवान् में अनन्त शक्ति है, उसी तरह उन्होंने अपने नाम में भी अनन्त शक्तियाँ रखी हैं । नाम-स्मरण करने के लिए भगवान् ने काल का बन्धन नहीं लगाया कि संध्या के समय लो अथवा प्रातःकाल लो, अपवित्र समय में नाम रटो अथवा पवित्र समय में, किसी प्रकार का कोई बन्धन 'नाम' के स्मरण करने में नहीं है । श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी कहते हैं कि हे प्रभो ! आपकी इतनी असीम कृपा है, फिर भी मेरा आपके 'नाम' में प्रेम नहीं है । 'श्रीभगवन्नाम' में प्रेम क्यों नहीं है ? इसका कारण महापुरुषों ने बताया है कि हमारे द्वारा जो नामापराध होता रहता है, उसके कारण हमें नाम की शक्ति का अनुभव नहीं होता है, नाम-स्मरण करने का यथार्थ फल नहीं मिलता तथा इसी कारण नाम में अनुराग भी नहीं होता । इसी प्रकार 'श्रीधाम' सबके समक्ष प्रकाशित है – **'प्रगट जगत में जगमगै, वृन्दा विपिन अनूप ।'** यह वृन्दावन धाम प्रकट जगत् में जगमगा रहा है । इस वृन्दाविपिन की अनन्त कान्ति फैल रही है परन्तु **"नैन अछत दीखै नहीं, यह माया को रूप ॥"** आँखों से इस धाम की अनन्त कान्ति, इसका वास्तविक स्वरूप हम लोगों को दिखायी नहीं पड़ता है । इसी पृथ्वी पर स्थित वृन्दावन के बारे में ब्रजदेवियों ने कहा है कि हे सखीजनो ! यह ब्रजमण्डल अपना 'प्रेम-माधुर्यमय यश' भूलोक में वितरित कर रहा है । **"वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्"** (श्रीभागवतजी १०/२१/१०) परन्तु धामापराध के कारण हमें इस धाम की वास्तविक महिमा की अनुभूति नहीं हो रही है । श्रीधामतत्त्व की सच्ची स्फूर्ति नहीं हो रही है । रसिकों ने कहा है – "तथा परमपावनं.....अनंकुशे धावति ।" यह परम पावन वृन्दावन धाम पृथ्वी पर बहुत प्रकाश फैला रहा है । किन्तु हमें ऐसा दिखायी क्यों नहीं देता तो कहते हैं – "परन्तु .....तत्व हि ।" इस धाम में रहने वाले स्थिर-जंगम, चर-अचर प्राणियों के प्रति शरीर, वाणी और मन से हम जो अपराध करते हैं, इससे तत्त्व बुद्धि बाधित हो जाती है । अतः धामापराध ही धाम की शक्ति स्फुरित होने में बाधक है । ऐसा क्यों होता है, ऐसा इसलिए होता है क्योंकि धाम के प्रति प्राकृत बुद्धि हो जाती है । प्राकृत बुद्धि होने के कारण धामापराध होता है । इसी प्रकार जब भगवन्नाम में प्राकृत बुद्धि हो जाती है, तब नामापराध होता है । रसिकों ने कहा कि मन, वाणी और शरीर से भी धाम के स्थिर-जंगम, चर-

अचर प्राणियों में बुद्धि प्राकृत भाव न लावे तो तुरन्त धाम का स्वरूप सामने आ जायेगा । ये कैसे होगा ? धाम में रहने के लिए एक रहनी बनानी चाहिए । 'रहनी' माने धाम में किस तरह रहा जाए, किस शैली से रहा जाए तो बोले इस शैली से रहो – **"परिहासेऽप्यन्याप्रिय......वृन्दावन पावने"** – 'परिहास' यानि हँसी में भी किसी से अप्रिय कथन मत कहो । अप्रिय कथन है – डाँटना, फटकारना, गाली-गलोज करना, निन्दा करना, चुगली करना; ये क्या है, यह मुफ्त का पाप है । धड़ाधड़ जीभ चल रही है, निंदा कर रही है और मुफ्त में ही पाप हो रहा है । धाम में इस तरह रहना चाहिए कि किसी की निंदा न तो की जाए, न सुनी जाए और न ही किसी से अप्रिय वाणी बोली जाए । यदि इस तरह धाम में रहा जाये तो धामापराध नहीं होगा और धाम का स्वरूप सामने आ जायेगा । ब्रज में प्राचीन महात्मा इसी प्रकार रहे ।

जिस समय 'श्रीगोविन्ददेवजी' वृन्दावन में ही विराजित थे; उस समय उनके मन्दिर में एक बार किसी चोर ने किसी ब्रजवासी भक्त के चालीस रुपये चुरा लिए । उस समय के चालीस रुपये आज के चालीस हजार रुपये से भी अधिक थे । वह 'ब्रजवासी' गोविन्ददेवजी के पुजारी के सामने आकर रोने लगा तो उसके दुःख से द्रवित होकर पुजारीजी ने अपने पास से उस भक्त को चालीस रुपये दे दिए । रात्रि को स्वप्न में गोविन्ददेवजी ने पुजारीजी को चोर के बारे में बता दिया कि कैसे उसने चालीस रुपये चुराए । पुजारीजी ने उस चोर को बुलाकर समझाया और बताया कि चालीस रुपये तुमने किस प्रकार चुराए, मुझे सब पता है । पुजारीजी के समझाने पर चोर ने अपनी चोरी की आदत छोड़ दी । पुजारीजी की भावना के अनुसार ब्रजवासी भक्त भी कृष्णस्वरूप था और चोर भी कृष्णस्वरूप था । धाम में रहने की यही पद्धति है । जब हम हृदय से सबके प्रति श्रीकृष्णवत् व्यवहार करने लग जाते हैं, तब हमें कुछ अनुभव होता है; ऐसी विशुद्ध भावना बन जाने पर ही चमत्कार होता है । यह वृन्दावन धाम ही सच्चा धन है । यह हम लोगों को कृष्णकृपा से मिला है । इसे सदा याद रखना चाहिए । इस मिली हुई कृपा को छोड़ना नहीं है, गँवाना नहीं है । यह मिली हुई चीज हाथ से चली जाये, ऐसा मत करना; ऐसा कभी भी मत करना । राधारानी की बड़ी कृपा से हमें उनके धाम की प्राप्ति हुई है, यहाँ भी हम टाँग पसारकर आलस्य में सोते रहेंगे, तो इससे बड़ा कोई निकम्मापन नहीं है । इस धाम में रहते हुए चतुरता यही है कि यहाँ हर समय श्रीप्रभु की आराधना में लग जाओ । **"वृन्दावन में बसत ही एतो बड़ो सयान । जुगल चन्द्र के भजन बिन निमिष न दीजै जान ॥"** 'निमिष' माने एक क्षण का सत्ताईसवाँ हिस्सा भी भजन-सुमिरन के बिना नहीं जाना चाहिए । यहाँ रहकर भी हम लोग आठ-दस घंटे सोयें, व्यर्थ की बातें करें, अभाव करें, निंदा करें, दोषदृष्टि करें तो इससे हमारा नुकसान है । इससे मिली हुई कृपा नष्ट हो जाएगी । यह धाम एक बहुत बड़ा धन है, यह धाम रूपी धन साधारण नहीं है, यह तो ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवों को भी दुर्लभ है । श्रीहरिरामव्यासजीमहाराज ने कहा है कि मैं पुकार-पुकार कर सबसे कहता हूँ किन्तु मेरी बात सुनने वाला यहाँ कोई नहीं है । इस बात को सुनने-समझने वाले लोग ही पैदा नहीं हुए हैं ।

'वृन्दावन साँचो धन भैया । कनक कूट कोटिक लगि तजिए, भजिये कुँवर कन्हैया ॥'

यह धाम हमें मिला है । सोने का पहाड़ भी यदि मिले तो भी धाम की मिट्टी को छोड़कर बाहर मत जाओ । यहाँ रहकर चौबीस घंटे आराधना में लग जाओ । घर-घर में यहाँ अखण्ड कीर्तन किया जा सकता है । बरसाना, गहवरवन धाम वह स्थान है, जहाँ पर परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भी यहाँ की रज को अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं ।

"जहाँ श्रीराधा चरणरेणु की, कमला लेति बलैया । तिन संग गोपी नाचति-गावति, मोहन वेणु बजैया ॥"

गहवरवन की ये वही कुंजें हैं, जहाँ आज भी दिन-रात भगवान् का रास चल रहा है, इसे देखने के लिए आँख चाहिए, भावना चाहिए । याद रखो, वृन्दावन पञ्चयोजन है । बरसाना, गोवर्धन, नंदगाँव आदि स्थल वृन्दावन में हैं ।

"कामधेनु को क्षीर सिन्धु तजि, भजहु नन्द की गैया । चारों मुक्ति कहा लै करियै, जहाँ जसोदा मैया ॥
अद्भुत लीला अद्भुत वैभव, साँचौ सुकदेव कहैया । आरत व्यास पुकारत वन में, थोरे लोग सुनैया ॥"

क्षीरसागर को छोड़ दो और ब्रज में गायों को देखो । व्यासजी बोले कि मैं चिल्ला-चिल्लाकर यहाँ की महिमा कहता हूँ किन्तु बहुत थोड़े लोग ही उसे सुनने वाले हैं, बाकी सभी लोग अपने संसारी कामों में व्यस्त हैं ।

'भावनामय वपु' से वास्तविक धामवास

श्रीबाबामहाराज के श्रीराधासुधानिधि-सत्संग (२७,२८/१/१९९९)

'भावना' के अनुसार ही वस्तु की अनुभूति व प्राप्ति होती है । जैसे-जैसे हमारा भाव प्राकृतपन को छोड़ता है, दिव्य (चिन्मय) बनता जाता है; वैसे-वैसे ही धाम या भगवान् का स्वरूप हमारे सामने दिव्य 'चिन्मय' बनता है और उसमें से प्राकृतत्व की अनुभूति गायब हो जाती है । जैसे यह धाम हमको प्राकृत दिखायी पड़ रहा है । यहाँ भी गन्दे, बुरे-अच्छे हर प्रकार के लोग दिखायी पड़ते हैं तो इसका मूल कारण यही है कि हमारे हृदय में अनादिकाल के जो संस्कार हैं, वे प्राकृत भाव बनकर भीतर बैठे हुए हैं और वे इस धाम का स्वरूप सामने नहीं आने देते हैं । यही फॉर्मूला भगवान् तक पर लागू है । आज हमारे सामने यदि भगवान् आ जायें तो भी हम लोग उनको नहीं समझ पायेंगे । इसीलिए कहा गया है – 'राम ते अधिक राम कर दासा ।' भगवान् से मिलने के पहले अपनी भावना को देखो, अपनी भावनाओं का शोधन करो । एक जगह भगवान् ने कहा है कि यह जो सारा संसार तुम्हें दिखायी दे रहा है – 'अच्छा-गन्दा, बुरा' तो जब तुम्हारी अपने शरीर से आसक्ति हट जायेगी या जब तुमको ज्ञान होगा या जब तुम्हारे अन्दर भावदृष्टि आयेगी, तब तुमको संसार ऐसा नहीं दिखायी पड़ेगा । भगवान् ने गीता '१५/३' में कहा है – **'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'** यह सब दुनिया बदल जायेगी । हमारी आँख बदली, दुनिया बदली । जैसे किसी को पीलिया रोग हो जाए तो सारी दुनिया पीली दिखाई देगी । भगवान् कहते हैं कि जब बोध (ज्ञान) होता है, तब संसार का यह रूप नहीं दिखायी देता है, इसलिए इसे 'असंग शस्त्र' से काट डालो और फिर साधन करने चलो । 'असंग शस्त्र' क्या है ? हमारा शरीर और मन गन्दा है, अपनी भावनाओं को इससे अलग करो और फिर भजन करने चलो । भजन करने के पहले शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से अपनी वृत्तियों को अलग करो, उसके बाद भजन करने चलो; ऐसा भगवान् ने कहा है – **'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'** (श्रीगीताजी १५/४) तब तुमको अनुभव होगा । हम लोग काला चश्मा लगा लेते हैं और चलते हैं तो हर चीज काली नजर आ जाती है । हमारा मन गन्दा है, वही काला चश्मा है । उस चश्मे को हम बदलते नहीं है और सोचते हैं कि जल्दी से हमें अनुभव हो जाए, भगवान् दिखायी दे जाएँ, राधिकारानी के दर्शन हो जाएँ । 'श्रीराधाकृष्ण' हमारे सामने आ जायें, इसके पहले हम ये नहीं सोचते कि जिन आँखों से राधाकृष्ण और उनका धाम दिखायी पड़ेगा, क्या वे आँखें हमारे पास हैं, इन आँखों के बारे में भी तो सोचना चाहिए । इसीलिए भगवान् कहते हैं कि भजन करने से पहले प्राकृत भाव से असंग हो जाओ, प्राकृत शरीर से असंग हो जाओ । प्राकृत शरीर को लेकर चलोगे तो लठ्ठ बजाओगे क्योंकि शरीर में आसक्ति है । शरीर की आसक्ति लेकर जहाँ भी जाओगे; चाहे बरसाना जाओ, नन्दगाँव जाओ, गोवर्धन जाओ, वहाँ शरीर नचाता रहेगा और अपने ही सुख-दुःख का अनुभव करता रहेगा । जैसे - एक महात्मा बरसाने में रहने के लिए आये, तो वे धाम निष्ठा की बात कर रहे थे, धाम में रहने की कह रहे थे किन्तु सुबह होते ही यह कहकर चले गये कि यहाँ मेरे शरीर के अनुकूल भोजन नहीं मिल पा रहा है । उनकी सारी धाम निष्ठा इस तरह नष्ट हो गयी क्योंकि शरीर एक समस्या है, शरीर में आसक्ति रहती है । जबकि धामनिष्ठा के बारे में शतककार ने कहा है – "अद्यैव मरणं ....." आज मरूँ या कल मरूँ किन्तु मुझे तो यहीं ब्रजभूमि में ही मरना है । जिसकी शरीर में आसक्ति नहीं है, उसे तो कोई हिला भी नहीं सकता । शतककार कहते हैं कि जब तक ब्रज में वृक्षों के नीचे सूखे पत्ते पड़े हैं, तब तक तू रोटी के लिए ब्रज से बाहर क्यों जाता है ? अगर इन बातों को कोई पढ़े, विचार करे तो फिर वह खाने-पीने के लिए धाम से बाहर नहीं जायेगा । कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि गर्मियों में हम बरसाना में नहीं आते, ठंडे इलाके 'शिमला आदि' में चले जाते हैं । गर्मी-सर्दी तो शरीर को सताती हैं । श्रीवृन्दावनमहिमामृत शतक के रचयिता श्रीप्रबोधानन्दजीमहाराज कहते हैं कि धाम में रहना हो तो शरीर की बातें खत्म करो, यहाँ हरे पत्ते भी मत तोड़ना, पेड़ों के नीचे सूखे पत्ते पड़े हैं, उनसे अपना जीवन-निर्वाह कर लो, तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी, धाम के बाहर क्यों जाते हो ?

श्रीगह्वरवन में मौनीजीमहाराज पेड़ के पत्ते औटाकर पी लेते थे, उन्होंने धाम में अखण्डवास किया । बरसात में उनकी कुटिया से पानी टपकता था किन्तु छत की मरम्मत करवाने से उन्होंने मना कर दिया । कुटिया की छत से तेजी से पानी टपकता तो वे इधर-उधर सरक जाते थे; हम जैसे लोग तो ऐसी हालत में छत सुधारने के अनेकों प्रयास करेंगे । शतककर लिखते हैं कि फटे-पुराने चीथड़े कपड़े शरीर पर लपेट लो, क्या आवश्यकता है रजाई, गद्दा, कम्बल और बढ़िया वस्त्रों की । ब्रज में गुफाएँ हैं, उनमें बैठकर जाड़ा बिता लो । फिर भी यदि कोई इस धाम को छोड़ता है तो मारा गया । धाम में रहकर यदि मनुष्य सोचता है कि हमें यह सुख मिलना चाहिए, वह सुख मिलना चाहिए; तब वह कभी भी निष्ठा को प्राप्त नहीं कर पायेगा । श्रीब्रजरसिक महापुरुषों ने कहा है कि यदि तुम कुछ भी नहीं कर सकते हो तो धाम में आकर मर ही जाओ, तब भी तुम्हारा कल्याण हो जाएगा । शतककार लिखते हैं कि राधारानी की सखियों को जो आनन्द मिलता है, भगवान् के अनन्त अवतारों और अनन्त लीलाओं में उसकी एक बूँद भी नहीं है । कोई भाग्यशाली अगर इस आशा के साथ वृन्दावन में रहता है कि मुझे तो धाम में ही मरना है, अगर इसी भाव के साथ वह शरीर छोड़ देता है तो उससे ऊँचा भाग्यशाली कोई नहीं है, चाहे वह भले ही कोई साधन नहीं कर रहा है । यदि तुम धाम में स्थायी रूप से नहीं रह सकते हो तो भी धाम के बाहर रहते हुए भी धाम के प्रति अपनी उत्कंठा बढ़ाओ । जो सच्चा साधक होता है, वह ऐसा ही करता है । हम जैसे बेईमान लोग तो धाम के बाहर रहते हुए भी धाम की बुराई करते हैं कि धाम में रहने से क्या होता है, वहाँ तो पण्डे-पुजारी पैसा माँगते रहते हैं, ब्रजवासी बड़े लोभी हैं । जो भी ऐसा करता है, चाहे कितनी ही वह माला फेरे, कीर्तन करे, हृदय का वह नास्तिक ही है । धाम-धामी अलग नहीं हैं । नाम-नामी अलग नहीं हैं; अगर कोई नाम-कीर्तन करता है और कृष्ण की बुराई करता है, तो उसके कीर्तन करने से कोई फायदा नहीं है । धाम की यदि तुम बुराई करते हो तो वह धामी की ही तो बुराई हुई । जैसे - किसी के घर में जाकर कोई घर के मालिक से उसके घर की बुराई करे कि तुम्हारा घर तो बहुत बेकार है, कूड़ाखाना है; तो 'घर की बुराई' घर के मालिक की ही तो निन्दा हुई और उसको भी दुःख लगेगा । इस प्रकार यदि कोई धाम की निन्दा करता है तो यह धामापराध तो है ही, साथ ही धामी का भी अपराध है, चाहे वह कितना ही ऊँचा वैष्णव अपने को माने, इससे उसे क्या मिलेगा । इसलिए महापुरुषों ने कहा कि यदि कोई ब्रज के बाहर रहता है और हृदय में शोक करता है कि हाय-हाय, हम ब्रज में नहीं रह पाये, बरसाना, नन्दगाँव आदि धाम में नहीं रह पाये; उसके हृदय में ब्रज के लिए तड़प रहती है, उसके हृदय की तड़प को राधाकृष्ण जानते हैं और जहाँ भी वह रहता है, श्रीराधामाधव उस पर कृपा करते हुए सोचते हैं कि अरे ! यह हमारे धाम के लिए तड़प रहा है । राधारानी बड़ी दयालु हैं, वे सोचती हैं, यह मेरे बरसाने के लिए तड़प रहा है तो वे उस पर कृपा करती हैं । परन्तु उस पर श्रीजी क्या कृपा करेंगी जो सोचता है कि बरसाना जाने से क्या होता है, वृन्दावन जाने से क्या होता है; यह बुराई किसकी हुई ? बरसाना-वृन्दावन किसका है, हमारे-तुम्हारे बाप का नहीं है । ब्रज-वृन्दावन तो वृन्दावनविहारीलाल का, वृन्दावनेश्वरी श्रीराधारानी का है । इसलिए अन्यत्र भी जो रहता है, उसका कर्त्तव्य है कि वह धाम की बुराई न करे, इसमें अभाव नहीं करे । इससे केवल धाम की ही बुराई नहीं होती, धामी की भी बुराई होती है और ऐसा करने वाले की सारी उपासना नष्ट हो जाती है । **"वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद् वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेतः ॥**

सत्तारणीकृत सुभाव सुधारसौघं राधाभिधानमिह दिव्य निधानमस्ति ॥" (श्रीराधासुधानिधि - ८)

प्रस्तुत श्लोक में धाम की भावनायें, धाम की रहनी, धाम की साधना आदि बहुत-सी बातें आती हैं क्योंकि धाम विभु तत्त्व है । 'भावना' कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक क्षण में आ जाये; भावना सीखना ही असली साधना है । इसके बारे में जो नहीं सुनता है, उसके अन्दर निष्ठा नहीं होती तथा निष्ठा के बिना कुछ प्राप्ति नहीं होती है । यहाँ सबसे पहली भावना यह है और इसे सीखना चाहिए – **"देहेऽस्मिन्नति कुत्सिते त्यज वृथाऽध्यासं यतः संस्मृतिर्घोरा चिन्तय चिद्घनं निजवपुः सर्वञ्च वृन्दावने ॥"** (श्रीवृन्दावनमहिमामृत २/८) जैसे भगवान् की भक्ति में, भगवद्-उपासना में बाधा है 'देहाध्यास' । इस देहाध्यास के कारण ही सारे अनर्थ होते हैं, वैसे ही धाम की भावना में भी यह शरीर बाधक है । इस शरीर के कारण ही

सब अपराध हुआ करते हैं । इस शरीर के कारण ही काम, क्रोध, लोभ आदि सब विकार सताते हैं । इस शरीर के कारण ही हम दूसरे से लड़ते- झगड़ते हैं, दूसरे की हिंसा करते हैं, दूसरे में अभाव करते हैं । इसीलिए कहा गया है – "देहेऽस्मिन्नति कुत्सिते त्यज वृथाऽध्यासं यतः संस्मृतिर्घोरा चिन्तय चिद्घनं निजवपुः सर्वञ्च वृन्दावने ।" ये सब चीजें बहुत जरूरी हैं । बहुत-से लोग इसे सुनने में घबराते हैं और सोचते हैं कि यह तो ज्ञान की बातें हैं । 'ज्ञान की बात नहीं है' जल्दी से उपासना सिद्ध होवे, प्रश्न इस बात का है । हमारे इष्ट हमारे सामने आवें, धाम का स्वरूप हमारे सामने आवे, भगवान् की लीलायें हमको दिखाई पड़ें । ये सब कोई खेल नहीं है और हम लोगों को इसमें प्रमाद भी नहीं करना चाहिए, इन सब चीजों को सुनकर घबराना भी नहीं चाहिए । क्योंकि फिर साधन क्या रहा ? बहुत-से लोग तर्क करते हैं कि भगवान् साधन से तो नहीं मिलते हैं । साधन से नहीं मिलते हैं, यह तो निश्चय बात है परन्तु यह समझना चाहिए कि भगवान् साधन से नहीं मिलते, फिर साधन क्यों बताया गया ? रसिकों ने, महात्माओं ने जो साधन बताया, वह क्यों बताया और साधन से भगवान् नहीं मिलते, यह भी तो समझना चाहिए । जैसे - आपने बहुत बड़ा पाप किया, किसी की हत्या की तो लोवर कोर्ट, हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट से आपको फाँसी हो गयी । फिर जब आप राष्ट्रपति के पास mercy appeal (दया की भीख) करते हैं तो वह छोड़ देता है । इसे समझिये, राष्ट्रपति ने छोड़ दिया, जबकि अदालतों के कानून के अनुसार हम छूटने लायक नहीं थे, फाँसी के लायक थे । राष्ट्रपति ने अकारण कृपा किया, हमें छोड़ दिया, दया की भीख दे दी; उस दया में उसका कोई स्वार्थ नहीं था । उस दया का हम कोई दाम नहीं चुका सकते । उस दया की हम कोई फीस नहीं दे सकते । उसकी दया अकारण ही कही जाएगी, किन्तु mercy appeal करनी पड़ी, दया की भीख तो माँगनी पड़ी क्योंकि वह जरूरी था । दया की अपील करना साधन नहीं है और राष्ट्रपति ने जो हमें छोड़ दिया, वह भी अकारण दया थी परन्तु हमारे मन में यह इच्छा पैदा हो कि हम दया की अपील करें, इसे साधन नहीं कहते हैं । इसीलिए रसिकों ने कहा है – 'देहेऽस्मिन् अति कुत्सिते' – यह शरीर नीच है, जिससे हम लोग प्यार करते है, इस शरीर के लिए दुनिया भर के पाप करते हैं । लड़ते-झगड़ते हैं, इस कुत्सित शरीर में – "देहेऽस्मिन्नति कुत्सिते वृथाऽध्यासं यतः संस्मृतिर्घोरा चिन्तय चिद्घनं निजवपुः सर्वञ्च वृन्दावने ॥" इस शरीर को छोड़कर अपने चिन्मय, शरीर को सोचो, उस शरीर के बारे में सोचो जिससे हम लोग भगवान् की सेवा करेंगे । राधिकारानी की उपासना है तो अपने किंकिरी भाव के बारे में सोचो, इस मल-मूत्र के शरीर के बारे में मत सोचो । बहुत-से लोग कहते हैं कि हम श्रीजी की सखी हैं तो वे साड़ी पहनते हैं, लहँगा पहनते हैं । किन्तु संत-महापुरुषों का कहना है कि यदि हम शरीर को यह सोचकर सजाते हैं कि यह शरीर सखी है तो हम इस शरीर से ऊपर कैसे उठेंगे ? इस हाड़-माँस के शरीर से तो ऊपर उठना है । इस सम्बन्ध में श्रीप्रियाशरणबाबामहाराज के जीवन की घटना है, जब वे गिरिराजजी में श्यामकुटी पर भजन करते थे । एक स्त्री काछ बाँधकर रहती थी, वह अपने को श्रीकृष्ण का सखा कहती थी । उसको यदि कोई बाई कह दे तो लट्ठ मारती थी और कहती कि मैं बाई नहीं हूँ, सखा हूँ । श्रीप्रियाशरणमहाराज को उसके बारे में पता नहीं था, वे जा रहे थे, रास्ते में वह स्त्री मिली तो उन्होंने कहा – 'कहो बाई, कुशल से तो हो ।' इतना सुनते ही वह बहुत नाराज हुई और बोली – 'पता नहीं, मैं ठाकुरजी का सखा हूँ, कैसे तुम बोलते हो ?' प्रियाशरणजीमहाराज ने अपने गुरुदेव पण्डित बाबारामकृष्णदासजीमहाराज से उस स्त्री के बारे में बताया तो वे बोले – वह मूर्ख स्त्री है । इस शरीर से तो न कोई सखा बनेगा, न सखी बनेगी । इस शरीर से यदि सखा बनना होता तो फिर भजन करने की क्या जरूरत थी । यह स्थूल शरीर भगवान् के धाम में तो क्या, स्वर्ग में भी नहीं जायेगा । पण्डित बाबा बोले – "ये नासमझ प्राणी हैं, आगे से तुम उस स्त्री से कभी मत बोलना । वह स्त्री सखा आदि कुछ नहीं है, उसने इस शरीर को ही सत्य मान लिया है । इसी से उसके काम-क्रोध आदि विकार नहीं गये और सबसे लड़ती है, कहती है कि मुझे बाई कैसे कह दिया । इस प्रकार की भावनाओं से उसके काम-क्रोधादि विकार कभी नहीं जायेंगे, ये लोग अभी उपासना को समझे नहीं हैं ।"

स्थूल शरीर से वह नित्य शरीर अलग है, जिससे सेवा प्राप्त होगी । 'सखा या सखी वपु' का इस भौतिक शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि इस शरीर को हम 'सखा-सखी' मानकर सजाते हैं तो फिर इस शरीर से हम ऊपर नहीं उठ पायेंगे । स्वामी हरिदासजी, हरिवंश महाप्रभु आदि बड़े-बड़े आचार्य हुये, इन्होंने क्यों नहीं लहँगा-फरिया पहना ? स्वामी हरिदासजी अपने शरीर में ब्रजरज पोतते थे तथा माटी का करुआ रखते थे, इसके अलावा कौपीन और बहिर्वास ही धारण करते थे; यह उनकी रहनी थी । जबकि भाव तो उनका सखी का था परन्तु वह भीतर का भाव था, ऊपर का भाव नहीं था कि लहँगा-फरिया पहना जाए । इसीलिए यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि भीतर का भावमय शरीर होता है । "देहेऽस्मिन् ....." वृन्दावन में जितने भी शरीर हैं, इन्हें ये मत समझो कि ये हाड़-माँस के शरीर हैं । 'चिन्तै चिद् घनम्' यह विचार करो कि धाम में जितने भी शरीर हमें दिखायी पड़ रहे हैं, जैसे कोई स्त्री जा रही है तो उसको स्त्री मत समझो, उसे स्त्री समझोगे तो तुम्हारी धाम उपासना सिद्ध नहीं होगी; उसको साक्षात् दिव्य शरीर वाली गोपी समझो । कोई भी व्यक्ति जा रहा है तो उसे समझो कि यह कृष्णसखा है और उसका शरीर चिन्मय है, यह विचार करो; इसको कहते हैं 'धाम की उपासना' । यदि तुम ऐसा भाव नहीं रखोगे तो तुम्हारी धामोपासना सिद्ध नहीं होगी । 'धामोपासना' के बारे में यह भी कहा गया है कि हमारी आँखें फूट जायें जो किसी के दोषों को देखें, कान फूट जायें यदि किसी के दोष सुनें, जीभ कट जाये यदि किसी की निन्दा करे । इससे अपना ही तो नुक्सान है, अपना ही तो प्राकृत (सांसारिक) भाव बढ़ेगा यानि इससे हमारे भीतर जो 'उपासना का शरीर' है, वह सिद्ध ही नहीं होगा । हम किसी की निन्दा कर रहे हैं, किसी के दोष देख रहे हैं, किसी की निन्दा सुन रहे हैं तो इससे व्यवहार-जगत् बढ़ता है; देहाध्यास बढ़ता है, जिसके कारण से शरीर में आसक्ति हो जाती है । इससे कभी भी उपासना नहीं आयेगी । सच्चा उपासक बनना है, सच्चा भावुक बनना है तो हमें यह समझना होगा कि जितने भी ब्रजवासी हैं, इनके शरीर सच्चिदानन्द (सत्-चिद्-घन) स्वरूप हैं । ब्रजवासीजनों को साधारण स्त्री-पुरुष न समझें । ऐसा जब हम सोचेंगे नहीं, समझेंगे नहीं तो हमारी 'धामोपासना' सिद्ध नहीं होगी । उपासना में केवल अपने ही भीतर के चिन्तित वपु को चिन्मय नहीं समझना है । बहुत-से उपासक एकान्त में बैठकर सोचते हैं कि हम लाड़िलीजी की सखी हैं, मेरा सखी स्वरूप है, मैं श्रीजी की सेवा में जा रही हूँ । जिनकी सखा भाव की उपासना है, वे सोचते हैं कि मेरा सखा स्वरूप है । इस प्रकार भजन करके जब ये लोग उठते हैं तो बाहर आकर किसी को भी डाँटने-फटकारने लगते हैं – 'ए, तुम ऐसा करते हो, तुम ऐसा करती हो ।' इस तरह कहने से उनका मामला गड़बड़ हो जाता है । धाम की उपासना का मतलब है – 'सर्वं च वृन्दावने चिद्घनं निजवपुः' – सब शरीरों को चिन्मय समझ लो । ये भी चिन्मय है, वह भी चिन्मय है, सब चिन्मय हैं, चराचर सृष्टि को दिव्य मान लो । यह असली उपासना है, यहाँ कोई प्राकृत पुरुष, प्राकृत स्त्री है ही नहीं । थोड़े में समझ लो कि सारा ब्रज राधाकृष्णमय है । ऐसा नहीं सोचो कि बहुत दिनों में जाकर ऐसा भाव सिद्ध होगा, यह तो बहुत लम्बा चक्कर है । लम्बे चक्कर की बात नहीं है । सच्ची बात ये है कि ज्यों-ज्यों तुम ऐसा सोचोगे, परमार्थ का रास्ता सुलझता जायेगा, उलझेगा नहीं । हमको ऐसा लगता है कि यह लम्बा चक्कर है । लेकिन भावना जगत् में जो भक्त रहते हैं, उन्हें अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति की प्राप्ति होती है । गीता में भगवान् ने कहा है – **नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।**

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (श्रीगीताजी २/६६)

अयुक्त को कभी बुद्धि नहीं मिलेगी, अयुक्त के अन्दर कभी भावना भी नहीं आयेगी । (यह समझने की बात है) बिना भावना के शान्ति भी नहीं आयेगी । 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' उसको कभी सुख नहीं मिलेगा । साधन में जो नहीं लगा है, फालतू घूम रहा है, प्रमाद में घूम रहा है, उसे 'अयुक्त-बुद्धि' कभी ठीक नहीं रखेगी । वह कहीं भी जायेगा, विनाश को प्राप्त हो जायेगा और उसकी भावना भी सदा गलत रहेगी, जब देखो तब उसकी भावनाओं में काम, क्रोध आदि विकार ही घुसते रहेंगे । इसलिए घबराओ नहीं, युक्त बनो । घबराने से कैसे काम बनेगा । शान्ति और सुख का मार्ग यही है । तुम जो घबराते हो, सोचते हो कि बाबा ने या ग्रन्थ में बड़ा लम्बा चक्कर बता दिया । ऐसा सोचना तो एक नास्तिकता की

बात है । कोई आदमी प्रेम से लड्डू दे रहा है और कह रहा है कि जाड़े में ये घी का लड्डू खा लो, फायदा करेगा किन्तु हम सोचें कि नहीं, इसमें जहर मिला हुआ है । इस प्रकार के संदेह (भ्रम) का निवारण करना बहुत कठिन हो जाता है । यह भावना तो सब जगह जरूरी है कि सारा संसार ही भगवान् है –

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥ (श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड - ८)

सारे संसार को सीताराम, राधामाधव, अपना इष्ट ही मान लो और हाथ जोड़कर प्रणाम करो; चाहे कोई तुम्हारा शत्रु है, चाहे दुष्ट है । यही सच्चा मार्ग है, इसी को भावना कहते हैं; ब्रज में ये भावना जल्दी सिद्ध होती है । हम ब्रज के सभी शरीरों को चिन्मय मान लें, यह धाम की उपासना का एक अंग है ।

‘श्रीधाम’ ही सच्चा साध्य

बाबाश्री के धाम-महिमान्वित सत्संग (२९-१-१९९९) से संकलित

धाम का आश्रय पकड़ लो, यहाँ निवास करने से ही राधारानी की प्राप्ति हो जाती है । इस धाम में इस शरीर से मत रहो; यह एक रहस्य की बात है । प्रश्न उठता है कि इस शरीर से नहीं रहेंगे तो क्या आकाश में उड़ेंगे ? नहीं-नहीं, यह विचार करो कि यहाँ (धाम में) जितने भी शरीर हैं, हमारे और अन्य सभी धामवासियों के शरीर चिन्मय हैं, दिव्य हैं; जिसको भावनामय शरीर कहते हैं । यह एक ऐसी कठिन बात है कि पानी में रहकर भीगो मत । इस ब्रज में हाड़-माँस के शरीर से मत रहो और न किसी दूसरे के शरीर को हाड़-माँस का समझो क्योंकि ऐसा समझने से तुम्हारे भीतर प्राकृत भाव आयेगा और काम, क्रोध, लोभ आदि सब विकार पैदा होंगे । इस धाम में जितने भी शरीर तुमको दिखायी पड़ते हैं, सबको दिव्य समझो । जैसे कि पहले बताया जा चुका है – “देहेऽस्मिन्नति कुत्सिते त्यज वृथाऽध्यासं.....” ‘चिन्तय’ माने यह तुमको सोचना होगा, सोचना माने ‘भावना’ करनी पड़ेगी । भावना जब सिद्ध होगी, तब ब्रज का स्वरूप दिखायी पड़ेगा । “चिन्तय चिद्घनं निजवपुः सर्वञ्च वृन्दावने” अपना भी शरीर सोचो कि वह दिव्य है, चिन्मय है । लाड़िलीजी की सेवा में जाना है तो सखी स्वरूप से जाना है । सखा भाव की उपासना है तो सखा स्वरूप है, बढ़िया-सी पाग है, अंगरखा है, फेंटा है । सखाओं का स्वरूप धारण कर सख्यलीला में जा सकते हो या श्रीजी की रासलीला, माधुर्यलीला में जाना है तो अपने सखीस्वरूप के बारे में सोचना होगा । ‘सखी’ माने स्त्री नहीं होता है । कुछ लोग जो नासमझ हैं, इस देह में जिसकी आसक्ति है और जो पुरुष बन गये हैं, वे सोचते हैं कि सखी बनना खराब बात है क्योंकि उनको लगता है कि ‘सखी’ स्त्री है । वस्तुतः ‘श्रीजी की सखी’ स्त्री नहीं है । महारासलीला में सम्मिलित होने के लिए तो महादेवजी भी आये । आसुरी मुनि के साथ वे वृन्दावन के उस पार वार्तावन में पहुँचे । परन्तु वार्तावन के बाहर ही उनको रोक दिया गया, जबकि महादेवजी का बड़ा सुन्दर दिव्य रूप है किन्तु उनके रूप को देखकर सखियों ने रोक दिया और कहा कि इस रूप के साथ आप रास में प्रवेश नहीं कर सकते, आपको गोपी रूप धारण करना पड़ेगा । तब महादेवजी गोपी बने । नासमझ लोग सखी बनने पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, वे समझते हैं कि सखी बनने का मतलब स्त्री बनना है । जबकि सखी रूप का मतलब है ‘सखी भाव’ । ‘सखी भाव’ क्या है, इसे लोग जानते नहीं हैं । ‘सखी भाव’ जैसा त्याग-वैराग्य होना तो बहुत कठिन है । राग गये बिना, विषय-आसक्ति गये बिना कोई भी उपासना सिद्ध नहीं हो सकती है । जो भी भगवान् का धाम, भगवान् की लीला पाना चाहता है, उसके लिए वह सारे संसार से राग हटा लेता है, वैराग्य कर लेता है । वीतराग तो होना ही पड़ेगा, उसके बिना धाम में प्रवेश नहीं होगा । गोपियों ने भी कहा है कि कृष्ण का अधर रस अथवा कृष्णरस पाना चाहते हो तो सब संसारी राग तो छोड़ने ही पड़ेंगे । “यदनुचरितलीलाकर्णपीयूष ....” (श्रीभागवतजी १०/४७/१८) शरीर और संसार की समस्त आसक्तियों के त्याग के बाद ही हृदय में सखी भाव आयेगा । ‘सखीभाव’ माने भगवान् के माधुर्यमय धाम में सेवा के लिए जो स्वरूप धारण किया गया । ‘सखीभाव’ धाम में श्रीराधामाधव की सेवा के लिए धारण किया जाता है । जिस प्रकार रामावतार में भगवान शिव ने अपने प्रभु की सेवा के लिए वानर रूप धारण किया, ब्रह्माजी ने जाम्बवंत के रूप में भालू का शरीर धारण किया । भगवान् के प्रेम के वशीभूत होकर उन्होंने सेवा के लिए अधम शरीर

तक ग्रहण कर लिए । संसार में पुलिस की नौकरी करो तो पुलिस की वर्दी पहननी पड़ती है, उस वर्दी के बिना काम नहीं चलता । इसलिए जिस शरीर से जैसे भी प्रभु की सेवा होवे ।

किएहुँ कुबेषु साधु सनमानू । जिमि जग जामवंत हनुमानू ॥ (श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड - ७)

हनुमानजी, जाम्बवंत, जटायु, कागभुशुंडिजी; इनके शरीर अधम हैं किन्तु सेवा के लिये ये शरीर ग्रहण किये, सेवा के लिए कुछ भी करना पड़े । मुख्य चीज है - सेवा । शेषनागजी सेवा के लिए सर्प बने हैं । इसी तरह सेवा के लिए ही 'सखी भाव' ग्रहण किया जाता है । नासमझ लोग कहते हैं कि सखी बनना क्या है ? स्त्री बन गये । स्त्री की बात नहीं है, मुख्य बात है – 'सेवा' । इसीलिए धाम में रहने के लिए रसिकों ने कहा कि इस शरीर से मत रहो । 'धामोपासना' यही है – "चिन्तय चिद्घनं निजवपुः सर्वञ्च वृन्दावने" मेरा शरीर चिन्मय है, यह मत सोचो कि मेरा मल-मूत्र का पिण्ड है, मैं शरीर हूँ । सखी भाव से जा रहे हैं तो सखी वपु है, सख्य भाव से जा रहे हैं तो सखा वपु है; उस भाव में रहो । इसके अलावा एक और बात है कि जैसी उपासना करनी होती है तो उसमें वैसे ही नियम-धर्मों की आवश्यकता पड़ती है । जैसे - खीर बनाने के लिए चावल, दूध, चीनी और पात्र आदि सब साधनों की आवश्यकता होती है । इसीलिए श्रीहरिराम-व्यासजी ने लिखा है कि उपासना में किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है –

"जाकी उपासना, ताही की वासना, ताही कौ नाम, रूपलीला गुन गाइये ।"

जिसकी उपासना करना चाहते हो, उसी की वासना हृदय में रखो । हर समय सोचो ठाकुरजी के लिए कि क्या सेवा करें, ठाकुरजी के भक्तों के लिए क्या सेवा करें, ठाकुरजी के लिए कैसे भोग लगावें । हर समय यही सोचना चाहिए । अपने शरीर के बारे में सोच लिया तो यह शरीर की उपासना हो गयी । जैसे गृहस्थ आदमी कहीं भी जाता है तो अपने स्त्री-बच्चों के बारे में सोचता है, बाजार जायेगा तो बच्चे और स्त्री के लिए खरीददारी करता है, वह चौबीस घण्टे उसी की वासना में रहता है । इसलिए वह उपासक है अपने घर का, भगवान् का उपासक नहीं है और जो सच्चा भक्त होता है तो उसे भगवान् के अतिरिक्त और कोई वासना नहीं रहती है । जिसकी उपासना है, यदि उसी की वासना है तो उपासना तुरन्त सिद्ध हो जाती है । **"यह अनन्य परम धर्म परिपाटी, वृन्दावन बसि तजि अनत न जाइये ।"** जिसकी उपासना है, उसी धाम में रहो । रसिकों ने कहा है – **"कूकुर ह्वै वन-वीथिन डोलूँ, बचे सीथ रसिकन के पाऊँ ।"** बड़े-बड़े महात्मा चाहते हैं कि प्रभु हमें इस ब्रज में कुत्ता बना दें, इसको 'प्रेम' कहते हैं । यहाँ तक श्रीवृन्दावनमहिमामृतशतककार ने कहा है कि "वृन्दारण्ये वरं स्यां कृमिरपि, परतो नो चिदानन्द देहो" ब्रज के बाहर दिव्य शरीर मिल जाये, हमें उससे मतलब नहीं है । हे श्रीराधे ! मुझे तो भले ही ब्रज में मल-मूत्र का कीड़ा ही बना दो किन्तु ब्रज के बाहर मैं नहीं जाना चाहता । ऐसा क्यों ? इसे उपासना कहते हैं । जैसे - एक सती स्त्री अपने पति के ही पास रहती है तथा व्यभिचारिणी स्त्री कई पुरुषों के साथ घूमती है । इसी प्रकार व्यभिचारी लोग कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं ।

"सोई व्यभिचारी आन कहै आन करै, ताको मुख देखे दारुन दुःख पाईये ।"

व्यभिचारी व्यक्ति उपासक नहीं बन सकता, उसका मुख देखने से ही दुःख लगता है, क्योंकि कहता कुछ और करता कुछ है । अपने आप को कहता उपासक है किन्तु पैसे के लिए दुनिया भर में डोलता है । किसी धामनिष्ठ संत को किसी कारण वश यदि ब्रज के बाहर जाना पड़ा; जैसे गुरु की आज्ञा हो गई या और कोई कारण हुआ तो जैसे अपने पीहर में रहते हुए भी स्त्री अपने पति के घर का चिन्तन करती है कि हमारा पति झोपड़ी में रहते हुए भी सकुशल रहे, उसका प्रेम वहीं रहता है । इसी प्रकार धामनिष्ठ भक्त यदि बाहर भी होता है तो यही सोचता है कि कब हम धाम में पहुँचेंगे, वह धाम के बारे में ही चिन्तन करता रहता है क्योंकि वह उपासक है परन्तु बहुत से लोग आजकल ऐसे हैं जो बाहर रहते हुए भी बुराई करते हैं कि ब्रज में रहने से क्या होगा ? इस तरह उनकी उपासना का नाश हो जाता है । वे लोग व्यासजी के अनुसार व्यभिचारी हैं । इसका मुख्य कारण यही है कि ऐसे लोग अपने शरीर में ही आसक्त रहते हैं, देहाध्यास में ही जकड़े रहते हैं, उन्हें धाम से, धामी से प्रेम नहीं है; अपने मान-सम्मान और शरीर से ही प्रेम है । धामोपासना, धामनिष्ठा के लिए जरूरी है कि

अपने शरीर से ऊपर उठो । तब तुम्हारे सामने अपना और धाम का स्वरूप सामने आएगा, नहीं तो तुम्हारी रति व्यभिचारिणी हो जाएगी । तुम तो सोचोगे कि हम जो कुछ कर रहे हैं, ठीक कर रहे हैं; जैसे किसी ब्रजवासी ने कहा कि हम अमृतसर के मंदिर में रहते हैं, वहाँ दिन भर कीर्तन होता है । ब्रज में आते हैं तो कीर्तन आदि सब बन्द हो जाता है । इस तरह वे धाम की निन्दा करने लग गये क्योंकि बाहर का दूषित पैसा मिला, बाहर का दूषित अन्न खाया तो धाम के प्रति प्रेम समाप्त हो गया । श्रीहरिरामव्यासजी ने लिखा है – **"भटकत फिरत गौड़ गुजरात ।"** वासना के कारण मनुष्य कभी गौड़ देश और कभी गुजरात और अन्य स्थलों में भटकता रहता है ।

"श्रीराधा प्रसाद ते, बसिबो वन भावै । नहिं यह कुमति पिशाचिनी, जहाँ-तहाँ भटकावै ॥"

धामेश्वरी 'श्रीराधारानी' की कृपा से ही ब्रज-वृन्दावन में मन लगता है और अखण्ड धामवास होता है, नहीं तो यह दुर्बुद्धि रूपी राक्षसनी ब्रजभूमि के बाहर भटकाती रहती है ।

परम पूज्या-सेव्या 'गौमाता'

भावाभिव्यक्ति – **परम गौ-सेवी**

संत 'श्रीब्रजशरणजीमहाराज'

श्रीमाताजी गौशाला, श्रीमानमन्दिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

प्रायः प्रत्येक सनातनी 'हिन्दू धर्मी' गऊ को 'गौमाता' कहकर ही पुकारता है । गौ की रक्षा करना भी हिन्दू धर्म का प्रधान अंग माना गया है । जैसे कोई भी पुत्र अपनी माता के प्रति कोई अव्यवहारिक बात नहीं सुन सकता, ठीक उसी प्रकार कोई सच्चा हिन्दू गौमाता के प्रति निर्दयता के व्यवहार को सहन नहीं कर सकता है, वह गौरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति भी दे सकता है, परन्तु हर हाल में गौमाता को बचाएगा ।

अथर्ववेद में एक मन्त्र है – **"इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु ।"** (अथर्ववेद २/२६/२) में प्रार्थना की गई है - हे प्रभु ! आपकी कृपा से मेरे गोष्ठ में इतनी अधिक गायें हों कि उनके आते समय धारा-सी बहती प्रतीत हो ।

आ गावो अग्म नुत भद्रक क्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रण्यन्त्वस्में रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीः पुरूरूपां इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरूषसो दुहानाः ॥ (ऋग्वेद ६/२८/१)

गौएँ हमारे घर आवें और हमारा कल्याण करें । वे हमारी गौशाला में बैठें और हमारे ऊपर प्रसन्न हों । इस गोष्ठ में तरह-तरह के रंगों वाली गौएँ बछड़े वाली होकर ऐश्वर्ययुक्त स्वामी के लिए प्रभातबेला में दुग्ध प्रदान करें ।

महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यक्ष के यह पूछने पर कि अमृत क्या है ? तब युधिष्ठिरजी ने यही कहा कि 'गौमाता का दूध' अमृत है । संस्कृत-साहित्य में 'गौ' शब्द का प्रयोग – 'गाय, पृथ्वी और वाणी' इन तीनों के लिए प्रयोग होता है । इससे सम्बन्धित एक बहुत ही सुन्दर श्लोक है – **"क्षीरं चान्नं तथा ज्ञानं, लोकेभ्यो दीयते यमा । गो माता सा सदा सेव्या, धेनुः पृथ्वी सरस्वती ॥"** धेनु (गाय) हमारी माता है क्योंकि वह हमें दूध पिलाती है । पृथ्वी भी हमारी माता है क्योंकि वह हमें अन्न देती है । सरस्वती (वाणी) भी माता है क्योंकि वह हमें ज्ञान देती है । अत: गौ-माता तो सदा ही सेव्या अर्थात् सत्कार के योग्य हैं ।

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः । तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥ (अथर्ववेद १२/४/३३)

'वशा' अर्थात् 'गौ' जिसे प्रदान की गई है, उसे उसका पालन आजीवन (भले ही वह दूध देना बन्द कर चुकी हो) करना चाहिए। वृद्धावस्था में भी गाय को किसी दूसरे (कसाई इत्यादि को तो बिल्कुल ही नहीं) को नहीं सौंपना (बेचना) चाहिए। गौवंश का वध करना या करवाना बहुत बड़ा जघन्य पाप व अक्षम्य अपराध है।

'गौ विश्वस्य मातरः' 'गौ' समस्त विश्व की माता है। आयुर्विज्ञान एवं सभी वेद-शास्त्रों में गाय की तुलना माता से की गई है। गौमाता के मूत्र के चिकित्सीय प्रयोग भी सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित हैं, यदि किसी दवा के साथ-साथ यदि देशी गाय के मूत्र का प्रयोग किया जाय तो बीमारी जल्दी व हमेशा के लिए ठीक हो जाती है।

"मातः सर्व भूतानां गावः सर्व सुखप्रदा।" गाय माता सम्पूर्ण प्राणियों की माता है। महर्षि वशिष्ठ द्वारा उपदिष्ट है कि गौमाता को परम पिता परमात्मा का साक्षात् विग्रह जानकर उनको प्रणाम करें – **"ययासर्वमिदं जगत् स्थावरजङ्गमम्। ता धेनुं शिवसा वन्द भूतभव्यस्य मातरम्॥"** जिसने समस्त चराचर जगत् को व्याप्त कर रखा है, उस भूत और भविष्य की जननी गौमाता को मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। वाल्मीकि रामायण में भी वर्णन आया है कि गाय माता से ही तीनों लोक स्थित हैं। अतः गाय माता प्रत्यक्ष देव है। शास्त्रों के अनुसार गाय के गोबर में महालक्ष्मी का निवास होता है, गौमाता के मूत्र में भागीरथी का वास होता है। महाभारत में गौमाता के मूत्र के माहात्म्य का वर्णन करते समय कहा गया है – **"ऋषिभिवाश्चापि जानामि राजन् पूजित लक्ष्मणाम्। येषाम् मूत्र उपाग्राह्म आदि बंध्या प्रसूयते॥"** गौमाता के मूत्र के सेवन या केवल उसके बछड़े या बैल के मूत्र को सूँघने से भी बंध्या स्त्री भी संतान उत्पन्न करने योग्य हो जाती है।

गौ-रक्षा विश्व को हिन्दूधर्म की देन है और जब तक गौ-रक्षा करने वाले हिन्दू भक्तजन संसार में विद्यमान हैं, तब तक सनातन हिन्दू-धर्म भी जीवित रहेगा। सच्चे सनातन-धर्मपालक की पहचान तिलक नहीं है और न ही जाति-पाँति के नियमों और बन्धनों का सूक्ष्म पालन ही है, उसकी पहचान तो उसके द्वारा गौ-सेवा (गौवंश के संरक्षण-संवर्द्धन) करने में ही है। गौवंश की सेवा चराचर जीवों के लिए परम कृपामयी है, जिसे हम सभी को अति प्रसन्नता के साथ करनी चाहिए, जिससे सहज ही भवसागर से वास्तविक उद्धार हो सकता है। आज हमारी जीवनशैली इतनी बदल चुकी है जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। धार्मिक नैतिकता बहुत दूर पीछे छूट गई है। प्रायः लोगों की दृष्टि में सांसारिक भोग-ऐश्वर्य ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है, इसके पीछे लोग माँ-बाप को भी छोड़ देते हैं। झूठ, कपट, बेईमानी से कमाये हुए धन को संसार में ही छोड़ कर जीव घोर नरक में जाता है। आधुनिक जीवनशैली की दृष्टि में अब 'बूढ़े' का अर्थ रह गया है 'अनुपयोगी'। इसलिए लड़के अपने बूढ़े माँ-बाप को वृद्धाश्रम में छोड़ कर आते हैं। एक बात अवश्य है कि कुत्ते पालना, कार में साथ ले जाना, उसे घुमाना, उसकी टट्टी धोना, पेशाब साफ करना, इससे आजकल के मनुष्य को कोई परेशानी नहीं है परन्तु गौमाता से ऐसा प्यार नहीं कर सकते हैं। जितने बड़े-बड़े मुँह के कुत्ते रखता है, उतना ही अपने आप को बड़ा आदमी मानता है। पहले मकान के द्वार पर 'अतिथि देवो भव', 'शुभ-लाभ' इत्यादि लिखते थे और अब लिखा रहता है – 'कुत्तों से सावधान'; क्योंकि हमारे मन में दूषित विचार होने से आचरण कुत्तों जैसे होते जा रहे हैं। आज मानव की बुद्धि इतनी खराब हो गई है कि रुपयों का बहुत अधिक दुरुपयोग करता रहता है परन्तु गायों की सेवा के लिए कुछ भी खर्च नहीं करता, इसलिए विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है। गौवंश की सेवा से ही भारतवर्ष का वैभव बढ़ेगा, मानव का वास्तविक विकास होगा। यज्ञ और दान का तो मुख्य स्तम्भ 'गाय' ही है। समस्त प्रकार के दानों में गौ का दान सर्वश्रेष्ठ दान माना जाता है। इसलिए हिन्दुओं में महत्वपूर्ण अवसरों पर आज भी गौ-दान करने की परम्परा है। श्रीवाल्मीकिरामायण (१/१४/५०) में लिखा है – **"गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः"** अर्थात् यज्ञ के अवसर पर महाराज दशरथ ने दस लाख गौएं दान कीं।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीमहाराज ने गाय के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखा है –

"सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥" (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - ११७)

राजा जनक ने याज्ञवल्क्य ऋषि को सोने से मढ़े हुए सींगों वाली एक हजार गौएँ दान में देकर अपने को परम सौभाग्यशाली और धन्य माना था । महर्षि च्यवन ने अपने शरीर का मूल्य राजा नहुष का चक्रवर्ती राज्य नहीं अपितु एक 'गाय' निर्धारित करते हुए कहा था कि गाय की कीमत तो हम से अधिक है ही, यहाँ तक कि गाय के कीमत की तुलना किसी से भी नहीं हो सकती, सबसे अधिक है; 'गौमाता' अनुपम व अमूल्य निधि तथा समस्त सृष्टि की पूज्या-सेव्या होने से परमाराध्या है । गीता (१०/२८) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है – **'धेनूनामस्मि कामधुक्'** गौओं में 'कामधेनु' मैं हूँ ।

दीपावली के अगले दिन गोवर्धन-पूजन का पर्व मनाया जाता है, गोवर्धन-पूजा में प्रमुख रूप से 'गौधन' की पूजा ही होती है । आज भी गाय के प्रति आस्था प्रकट करते हुए अधिकांश हिन्दूधर्म के घरों में पहली रोटी गाय के लिए बनती है, बाद में परिवारीजनों के लिए । गाय प्रेम, त्याग, करुणा, उदारता, धैर्य, गम्भीरता एवं सन्तोष की साक्षात् स्वरूप है । 'गाय' मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ हितैषी माँ है । गाय अपनी श्वाँस से प्राणवायु (ऑक्सीजन) छोड़ती है । गाय के शरीर में गूगल की गन्ध प्रवाहित होती रहती है । इस प्रकार गौ-सेवा व गौ-रक्षा से धर्म, अर्थ, मोक्ष की प्राप्ति होती है । महाभारत में अनुशासन पर्व के २१/३३-३५ श्लोकों में कहा गया है कि जो मनुष्य गौसेवा करता है, गाय उस पर सन्तुष्ट होकर उसे अत्यन्त दुर्लभ वरदान देती है । अतः गाय के साथ कभी मन से भी द्रोह न करें, उसको सदा सुख पहुँचायें और गाय की अपनी सामर्थ्य अनुसार सेवा व सत्कार करें, जो मनुष्य जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होकर नित्य गायों की सेवा करता है, वह पुण्य और सौभाग्य का भागी होता है । जैन धर्म में तो जीव मात्र की हत्या वर्जित है । जैन धर्म में गाय को कामधेनु कहा जाता है । महावीर स्वामीजी ने कहा था कि गाय अहिंसा की प्रतिमूर्ति है एवं सम्पूर्ण मूक सृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है । अतः सभी उपायों से गौवंश के प्राणों की रक्षा करना परम धर्म है । इस्लाम मजहब में भी गौवध का निषेध है – 'काते-उल-शजर', 'वाय-उल-वशर', 'जावेह-उल-वकर', 'दायम- उल-खमर', 'अब्दन फी उस्सकर' अर्थात् हरा पेड़ काटने वाले, दूसरे की स्त्री से कुकर्म करने वाले, गाय को मारने वाले, तथा शराब पीने वाले, खुदा के यहाँ कभी माफ नहीं किये जायेंगे । 'इस्लाम' शब्द अरबी भाषा की सलम धातु से बना है, जिसका अर्थ है – 'किसी को दुखः न देना' । मुस्लिम विद्वान व प्रचारक ख्वाजा हसन निजामी ने लिखा है – 'गाय की कुर्बानी न की जाए क्योंकि इस्लाम मजहब में गाय की कुर्बानी की तहफीक नहीं है ।' सिक्ख-पंथ में भी गौ-रक्षा को पूर्ण महत्व दिया गया है । सिक्ख-धर्म के दशवें गुरु गोविन्दसिंहजी ने 'गुरु ग्रन्थ साहब' में लिखा है – **"यही, देह आजा कि तुर्क को खपाऊँ । गोघात का दुःख जगत से हटाऊँ ॥ आस पूरन करो तुम हमारी । मिटे कष्ट गौअन छुटे खेद भारी ॥"** महाराजा रणजीत के राज्य में भी गौ-हत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध था । सन्त श्रीकबीरदासजीमहाराज ने भी कहा था – **"दिन भर रोजा राख के, रात काटते गाय । एक खून एक बन्दगी, कैसे खुशी खुदाय ॥"** बाबर ने अपने बेटे हुमायूँ के नाम की गई अपनी वसीयत "जमादि-उल-अव्वल – ९३० हिजरी" में लिखा था कि "गाय की कुर्बानी पर सख्ती से पाबन्दी लगा देना, क्योंकि गाय की कुर्बानी होने पर तुम हिन्दुओं के दिलों पर कभी राज नहीं कर सकते ।" अन्तिम मुगल बादशाह शाहजहाँ की ओर से गौ-हत्या पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु ७ जिला हिज्जा - बतारीख २९ जुलाई १८५७ ई. को शाही फरमान जारी किया – "खल्क खुदा का मुल्क बादशाह का, जो भी शख्स इस मौसम बकरीद में या उसके आगे-पीछे गाय, बैल या बछड़ा-बछड़ी को जिवह करेगा, उसे सजा-ए-मौत दी जायेगी ।" 'गाय' सर्वोत्तम क्यों ? आधुनिक वैज्ञानिक इस बात पर चकित हैं कि प्रत्येक पशु के माँस व दूध में संखिया का अंश पाया जाता है, परन्तु 'गौमाता' के दूध में संखिया का अंश आज तक उपलब्ध नहीं हुआ । इससे भी गाय के दूध का विशेष महत्त्व और इस कारण से गाय का वैशिष्ट्य प्रत्यक्ष सिद्ध होता है । गाय का एक दिन का बछड़ा उछलता कूदता चलता है, जबकि भैंस का पड्डा बीस दिन का भी सुस्त पड़ा रहता है । पचास भैंसों के बीच में भैंस के पड्डा को छोड़ा जाए तो वह सीधा अपनी माँ के पास नहीं पहुँचेगा, जबकि गाय का बछड़ा सौ गायों के बीच में छोड़ा जाने पर भी सीधा अपनी माता के पास पहुँच जाएगा । इससे गाय का दूध पीने से बौद्धिक स्तर की उत्कृष्टता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है । गाय के बछड़े का नाम रख दिया तो पुकारने पर तुरन्त आपके पास आ जाएगा परन्तु भैंस का पड्डा ऐसी

कोई प्रतिक्रिया नहीं कर सकता है । देशी गाय कड़ी धूप सहन कर सकती है, भैंस और जर्सी गाय कड़ी धूप में देर तक नहीं रह सकती है । गाय के दूध में कैरोटिन नामक पीला पदार्थ रहता है जो आँखों की ज्योति बढ़ाता है, जबकि भैंस के दूध में नहीं होता है । 'महर्षि चरक' कहते हैं – 'गाय का दूध जीवन-शक्ति प्रदान करने वाले द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ है ।' 'श्रीधन्वन्तरिजी' का कथन है – "सफेद गाय का दूध वातनाशक, काली गाय का दूध पित्त नाशक तथा लाल गाय का दूध कफ नाशक होता है ।" गाय का दूध पथ्य, रसायन, बलवर्धक, हृदय के लिए हितकर, मेधाशक्ति को बढ़ाने वाला, आयुप्रद, पुरुषत्वकारक, वात तथा रक्तविक्त के विकार को नष्ट करने वाला होता है । गाय का मक्खन क्षय, बवासीर, लकवा तथा खाँसी को नष्ट करने वाला है; यह मक्खन बालकों और बूढ़ों के लिए हितकारी है, बच्चों के लिए अमृत तुल्य है । गाय के गोबर व गौ-मूत्र को चर्म रोग वाले स्थान पर मलें, फिर एक घंटा धूप लें; उसी दिन खुजली बन्द । गाय के गोबर में जहर खींचने की विशेष शक्ति होती है, इसकी गन्ध से हानिकारक विषैले जीव-जन्तु मर जाते हैं । गाय का गोबर मल शोधक और प्रदूषण निवारक एवं रोगाणु नाशक होता है । गाय का दूध सुपाच्य और पोषक है जो कि माताओं, दुर्बल, बीमार, वृद्ध और बालकों के लिए गुणकारी है; यह शरीर की सातों धातुओं को बढ़ाता है । गाय के दूध में 'सेरी ब्रो साइड' तत्व है, जो बुद्धि के विकास में सहायक है, गाय का दूध शीतल है, अतः पित्त विकारों में बहुत लाभकारी है ।

श्रीभावदृष्टि से अनुभूति

बाबाश्री के धाममहिमान्वित-सत्संग (२५/१२/१९९९) से संकलित

श्रीभगवान् के नाम-धाम में मन रमण तब करता है, जब पहले इष्ट की महिमा, लीला को सुना जाता है । जैसे - गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने लिखा है कि नाम लेने के पहले – **नाम निरूपन नाम जतन तें ।**

सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ॥ (श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड – २३)

नाम का माहात्म्य सुनो, नामापराध क्या है, ये सब जानो; उसके बाद नाम की आराधना करो । नाम-संकीर्तन लोग करते हैं किन्तु नामापराध से नाम के लेने का फल नहीं मिलता है । इसलिए निरूपण पहले और जतन अर्थात् नाम का यत्न और कीर्तन पीछे । किसी वस्तु में मन तब रमेगा, जब उसके स्वरूप, उसके माहात्म्य का निरूपण किया जाए, सुना जाए; उसको जानने के बाद तब साधन होता है । 'सोई प्रगटत' – उससे वह तत्त्व प्रकट होता है । गोस्वामीजी ने यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही – "नाम निरूपन....." नाम के निरूपण के बाद वह तत्त्व तुम्हारे भीतर प्रकट हो जाएगा, भासने लगेगा, अपने आप भासेगा । उसी तरह धाम है । नाम उपासना, धाम उपासना, जन उपासना, कोई भी उपासना करनी है तो पहले उस उपासना का स्वरूप, उसका निरूपण, उसका माहात्म्य समझा जाए, फिर उपासना की जाए । नारद भक्ति सूत्र में कहा गया है – **न माहात्म्य ज्ञान विस्मृतिः** – माहात्म्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए । माहात्म्य को विस्मृत कर देने पर वह तत्त्व प्रकट नहीं होगा । धाम के बारे में भी धाम में रहने के पहले, धाम में जाने के पहले धाम का स्वरूप, धाम की भावनायें, धाम तत्त्व जानना आवश्यक है । उसके बाद धाम तत्त्व हृदय में प्रकाशित होगा और उसका ऐसा प्रकाश होगा, जो हृदय के समस्त अन्धकारों को दूर कर देगा तथा धामी को भी हृदय में स्थापित कर देगा । धाम की कृपा से धामी की प्राप्ति होती है । उस धाम के प्रति सबसे पहली बात है कि चिन्मयता की भावना स्थापित की जाये । श्रीवृन्दावन महिमामृत शतककार लिखते हैं – **यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः सर्व पदार्थोऽप्यबुधैरदृश्य ।**

स्वानन्द सच्चिद् घनतामुपैति तदेव वृन्दावनमाश्रयन्तु ॥

जहाँ सभी जन्तु, सब चर-अचर सच्चिद् घनता को प्राप्त हो रहे हैं । यही धाम उपासना का मूल है और धाम उपासना के मूल के आने से फिर धाम तत्त्व प्रकाशित होता है । धाम की हर वस्तु सच्चिद् घन है । यदि सच्चिद् घन शब्द कड़ा लगता है तो यह समझ लो कि रसमय है । धाम की हर वस्तु चिन्मय है, रसमय है अथवा चिन्मय-रसमय भी न समझ में आये तो यह समझो कि धाम की हर वस्तु श्रीराधा-कृष्णमय है या राधा-कृष्ण ही हैं । मोटी से मोटी भाषा में उसको

समझना चाहिए और यह प्रयत्न करना चाहिए कि जो हमारा प्राकृत भाव है, वह चला जाए । धाम में रहते समय हमसे धामापराध न होवे, प्राकृत भाव चला जाए, भले ही यहाँ चीजें प्राकृत दिखायी पड़ती हैं जैसे यहाँ भी दिखाई पड़ता है कि ब्रजवासी लड़ रहे हैं, ये सब प्राकृत धर्म दिखाई देता है । इन सबके होते हुए भी भीतर से इनके प्रति चिद् घनत्व का भाव बना रहे, यही है धाम उपासना । वह भाव तभी बनेगा जब नित्य ही, सौ-सौ बार इनका माहात्म्य सुना जाएगा, तब वह चीज हृदय में स्थापित होती है, अन्यथा प्राकृत भाव बना रहता है । प्राकृत भाव होने से उसका स्वरूप सामने नहीं आता है । वृन्दावनमहिमामृत में कहा गया है – **तथा परमपावनं भुवि चकास्ति वृन्दावनं यथा हरिरसे मनः स्वयमनङ्कुशे धावति ।**

परन्तु यदि तद्गतस्थिरचरेषु नो कायवाङ् मनोभिरपराधिता भवति बाधिता तत्त्वधीः ॥

मन से धामापराध न होवे । तद्गतस्थिरचरेषु – स्थिर माने लता-पता, सरोवर, पर्वत और चर माने यहाँ रहने वाले ब्रजवासी मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी (कुत्ता-कुतिया) में भी हमारा यह भाव हो कि यह वही तत्त्व है तो उससे मनोभिरपराधिता न भवति – धामापराध नहीं होता है और बहुत शीघ्र धाम का स्वरूप सामने आने लग जाता है, विलम्ब नहीं होती है । धाम में तो श्रीकृष्ण और राधिकारानी अपने आप ही भासित होते हैं, प्रकाशित होते हैं, सदा दिखाई पड़ रहे हैं – यथा हरिरसे मनः स्वयमनङ्कुशे धावति - परन्तु हरि रस में अनुंकुश रूप से मन नहीं दौड़ता है क्योंकि हमारे भीतर प्राकृत भाव भरे हुए हैं और इसीलिए धामापराध होता रहता है । उदाहरण के लिए हम लोग बरसाने में रह रहे हैं, बाहर से भी लोग नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन आदि स्थानों में आते-जाते रहते हैं किन्तु यही धाम जो दिखाई पड़ रहा है, इसी में जिनकी भाव दृष्टि है, तत्त्वबुद्धि है, उनको इसका वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ता रहता है और हम जैसे मूढ़ लोगों को ऐसा नहीं दिखाई देता है । रसिकन पारिजात यह दीखत विमुखन ढाक पीलूख । रसिकों को यहाँ के वृक्ष पारिजात दिखाई पड़ते हैं और हम जैसे विमुखों को दिखता है कि यह ढाक का वृक्ष है, यह पीलू का वृक्ष है । यह एक विचित्रता है, जिसको समझना चाहिए । यह वही स्थल है, वही बरसाना है, जिसके बारे में वृषभानुपुर शतक में लिखा है – जयत्यशेषाद्भुतमाधुरी सा, पुरी बृषाहस्कर‌राजकस्य । ब्रजराज श्रीवृषभानुजी की नगरी 'श्रीबरसाना- वृषभानुपुरी' अनन्त अलौकिक माधुर्य से सम्पन्न है, वह नगरी सर्वोत्कर्षशालिनी है, अतएव उसकी जय हो । **"यत्रास्ति श्रीमद्वृषभानुमन्दिरं, प्रभासहस्रामलचन्द्रसुन्दरम् ।"** इस पुरी में श्रीवृषभानुजी का महल है, जहाँ कोटि-कोटि चन्द्रमाओं का प्रकाश हो रहा है । यह बरसाने का वर्णन है । जिन्होंने इसे देखा है, उसे लिखा है । केवल संस्कृत भाषा की ही बात नहीं है । ब्रज भाषा में भी बरसाने का वर्णन किया गया है जैसे रंगीली होली में गाते हैं – **"अति सरस बस्यो बरसानो जू, राजत रमणीक रवानो जू । जहाँ मणिमय मन्दिर सोहै जू, उपमा को रवि शशि को है जू । नित होत कुलाहल भारी जू, मन मुदित सकल नर-नारी जू । वृषभानु गोप जहाँ राजै जू ॥"** बरसाने में श्रीजी का मणिमय महल है, उसकी किरणों की समता सूर्य और चन्द्रमा भी नहीं कर सकते हैं । ऐसे दिव्य मणिमय महल में वृषभानुजी विराजते हैं, राधारानी विराजती हैं । ऐसा यह बरसाना है । जिन लोगों को बरसाने का ऐसा स्वरूप दिखाई पड़ा, उन्होंने लिखा किन्तु हमें ऐसा रूप नहीं दिखाई पड़ता है क्योंकि हमारे पास वह तत्त्व बुद्धि या भाव दृष्टि नहीं है । दूसरा उदाहरण है, हम लोग गिरिराजजी जाते हैं किन्तु वहाँ कुछ नहीं दिखाई पड़ता है जबकि कुम्भनदास महाराज को वह गिरिराजजी दिखाई पड़े, वह महल दिखाई पड़ा और राधारानी की चित्रसारी दिखाई पड़ी, जिसमें श्रीजी और श्यामसुन्दर विराज रहे थे । गिरिराजजी में बड़ी सुन्दर चित्रसारी है, जिसमें दोनों विराजते हैं । कुम्भनदासजी को वह दिखाई पड़ी । हम लोगों को यह सब दिखाई नहीं पड़ता है क्योंकि हमारे पास वह दृष्टि नहीं है । कुम्भनदासजी रात को बैठे थे, उनको नींद नहीं आ रही थी । भगवद्भक्तों को नींद कहाँ आती है, वे तो रस की भावना में दिन-रात डूबे रहते हैं । कुम्भनदासजी को रात को श्रीजी-ठाकुरजी की लीला दिखाई पड़ रही थी और श्रीनाथजी का दिव्य मन्दिर दिख रहा था । हम लोगों को तो वह प्राकृत दिखाई पड़ता है । कुम्भनदासजी जो देखते थे, वही गाते थे । वे कवि नहीं थे । वे तो अनुभूति सिद्ध महात्मा थे, उन्होंने जो देखा, उसी को गाया । ऊपर बैठकर कुम्भनदासजी लीला गा रहे थे, नीचे वही लीला उनके पुत्र चतुर्भुजदासजी को दिखाई पड़ रही थी । वे भी अष्टछाप के महापुरुषों में परम भगवदीय

हुए हैं । लीला के पद की पहली पंक्ति तो कुम्भनदासजी ने गाई, दूसरी पंक्ति चतुर्भुजदासजी ने गाई । कुम्भनदासजी समझ गये कि इसको भी गिरिराजजी का स्वरूप दिखाई पड़ रहा है, लीला की अनुभूति हो रही है । बाकी अन्य लोगों को ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई पड़ा, जबकि वहाँ बहुत से लोग थे । बाकी लोगों को क्यों नहीं दिखाई पड़ा ? उनकी भाव दृष्टि का परिपाक नहीं हुआ था । इन उदाहरणों से यह समझना चाहिए कि हम धाम में रहते हैं, श्रीजी की कृपा है, ठीक है किन्तु वास्तविक कृपा का अनुभव हम तब करेंगे जब हमारे अन्दर यह भाव दृष्टि आएगी कि धाम में सब कुछ चिन्मय है । न किसी में दोष दिखाई पड़े, न प्राकृत भाव दिखाई पड़े, बस उसी समय धाम उपासना सिद्ध हो जाती है । जब तक हमारे भीतर यह प्राकृत भाव है जैसे रामदास कहता है कि गोपालदास बड़ा गड़बड़ है । गोपालदास कहता है कि श्यामदास बड़ा संग्रही है । श्यामदास कहता है कि गोविन्ददास तो बड़ा मायावी है । ये सब जितनी भी चीजें हैं, ये प्राकृत बुद्धि उत्पन्न करके हमारे भीतर भाव दृष्टि को नष्ट कर देती हैं । जितनी भाव दृष्टि होती है, उतना ही अनुभव होता है । इस वर्ष की हमारी राधारानी ब्रजयात्रा का ही ताजा उदाहरण है । एक स्त्री झाँसी की रहने वाली थी, उसके पुत्र को कैंसर हो गया था । वह उसका इलाज कराने दिल्ली लायी थी लेकिन उसकी मृत्यु हो गयी । अब जिसके एक ही पुत्र हो, वह मर जाए तो माँ को कितना दुःख होगा । उस महिला ने सोचा कि पुत्र के शव को झाँसी ले चलूँ, वहीं इसका अन्तिम संस्कार कर दिया जाएगा । ऐसा विचारकर वह झाँसी जाने के लिए दिल्ली से अपने पुत्र का शव लेकर रेलगाड़ी में बैठी, रास्ते में मथुरा पड़ा । मथुरा में उसको ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई कानों में कह रहा है कि तू अपने बेटे का अन्तिम संस्कार ब्रज में कर दे । यह बड़ी विचित्र घटना थी । ऐसी घटनायें आस्था उत्पन्न करती हैं कि श्रीजी हैं । वह महिला अपने पुत्र के शव को लेकर मथुरा में उतर पड़ी । उसका पति झाँसी में पुलिस की नौकरी में था, उसको छुट्टी नहीं मिली थी । वह महिला पुत्र के शव को लेकर यमुनाजी के किनारे गयी, उसकी यमुनाजी के प्रति श्रद्धा थी, इसलिए वह यमुनाजी से बोली – 'हे माँ ! मैं अपने पुत्र के शव को जला नहीं रही हूँ, मैं इसे तुझे सौंप रही हूँ । तू मेरे पुत्र को जीवित कर देना और फिर मुझे लौटा देना । मुझे विश्वास है कि तू मेरी बात सुनेगी ।' ऐसा कहकर उसने अपने पुत्र के शव को यमुनाजी में प्रवाहित कर दिया और झाँसी चली गयी । झाँसी जाकर वह रोती रही, साल-डेढ़ साल तक उसने प्रतीक्षा किया कि यमुना मैया मेरे पुत्र को जीवित करके मेरे पास भेजेगी । जब उसका पुत्र नहीं आया तो वह निराश हो गयी, उसने सोचा कि अब मैं मथुरा में चलकर आत्महत्या कर लूँ । वह स्त्री बिना किसी को बताये झाँसी से आत्महत्या करने के लिए मथुरा को चली । जिस दिन वह मथुरा पहुँची, उस दिन अक्षय नवमी थी, मथुरा की परिक्रमा हो रही थी, उसमें बड़ी भीड़ थी । वह महिला भी रोते हुए अर्द्ध विक्षिप्त अवस्था में उसी परिक्रमा में सम्मिलित हो गयी । उसने सोचा कि मथुरा की परिक्रमा करके तब मैं आत्महत्या करूँगी । मथुरा की परिक्रमा करते हुए जब वह श्रीकृष्ण जन्म भूमि पहुँची, उसी समय हमारी ब्रजयात्रा भी मथुरा पहुँच गयी । उस महिला को रास्ते का ज्ञान नहीं था कि कहाँ मथुरा, कहाँ वृन्दावन है ? उसने सोचा कि कोई ऐसा चिह्न पकड़ लूँ और उसके सहारे पीछे-पीछे चलूँ, किसी से पूछना न पड़े । उसी समय हमारे मान बिहारी लाल का डोला वहाँ पहुँच गया । उस महिला ने सोचा कि यह डोला बढ़िया है, ठाकुरजी के पीछे ही चलना चाहिए । इससे परिक्रमा आसानी से लग जायेगी । रोती हुई वह ठाकुरजी के डोले के पीछे चल पड़ी । नृसिंहदासजी माइक पर बार-बार घोषणा कर रहे थे कि यह ब्रज चौरासी कोस की यात्रा है, इसमें मथुरा-वृन्दावन की परिक्रमा वाले न शामिल हों किन्तु भगवान् की ऐसी लीला थी कि उस महिला ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया क्योंकि भगवान् को उसे बचाना था । जब हमारी यात्रा मधुवन में आकर रुकी तो उसने किसी यात्री से कहा कि मुझे यमुनाजी पहुँचा दो । किसी ने उसे बस पर बैठा दिया । उसके पास डेढ़ सौ रुपये थे । उसने सोचा कि अब मुझे यमुना में डूबकर मरना चाहिए । जब वह बस से उतरी तो अचानक इतनी तेजी से गिरी कि उसकी टाँग में बुरी तरह चोट लग गयी । उसके पैसे भी चोरी हो गये । पैर में चोट लगने के कारण वह चल ही नहीं पा रही थी, उसने सोचा कि अब कैसे यमुनाजी जाऊँ । उसने सोचा कि पाँव जब ठीक हो जाएगा तब मथुरा आऊँगी । उसके पास बीस रुपये थे, उसके द्वारा वह बस में बैठकर बरसाना आ गयी । बरसाना

में मान मन्दिर में आ गयी । यहाँ किसी भक्त महिला से मिली । उसने कहा कि पहले तुम अपना पाँव ठीक कर लो, फिर कहीं जाना । वह रस मन्दिर में रुकी । रस मन्दिर वालों ने उसके पैर का इलाज करवाया लेकिन उसका पैर ठीक नहीं हुआ, १५-२० दिन हो गये । उसके पैर को तो ठाकुरजी ने तोड़ा था तो वह जल्दी कैसे ठीक होता ? अन्त में उसने बताया कि मैं झाँसी की रहने वाली हूँ । उसके पति के पास फोन किया गया तो पति उसे लेने यहाँ आया । जब वह जाने लगी तो मेरे पास दर्शन करने के लिए आयी । वह रोती रही और हम उसकी बात सुनते रहे । भक्तमाल जैसी एक सच्ची घटना घट गयी, इससे पता चलता है कि प्रभु कैसे जीव की रक्षा करते हैं, कैसे उस पर कृपा करते हैं, उस महिला को बचाकर प्रभु कहाँ लाया, 'राधारानी ब्रजयात्रा' में लाया, जहाँ दिन-रात कीर्तन और नृत्य होता है । इस बात पर विचार करना चाहिए कि ठाकुरजी कहाँ लाते हैं ? इस घटना से हमको भी बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्रीजी हम लोगों की ब्रजयात्रा को स्वीकार करती हैं । श्रीजी ही उस स्त्री को बचाने के लिए मान मन्दिर की ब्रजयात्रा में लायीं, जबकि उस स्त्री का किसी से कोई परिचय नहीं था । उसने कभी सोचा भी नहीं था कि 'राधारानी ब्रजयात्रा' क्या है ? वह तो अपने घर से आत्महत्या करने के लिए निकली थी । जब अन्तिम बार वह मेरे पास आयी तो हमने उसकी बात सुनी, उसकी बात सुनकर हम भी ठाकुरजी की कृपा और उनके चमत्कार को विचारकर दंग रह गये कि देखो, वह स्त्री मरने के लिए मथुरा यमुना किनारे गयी किन्तु उसे ठाकुरजी ने मथुरा की परिक्रमा में भेज दिया, वहाँ से 'राधारानी ब्रजयात्रा' में पहुँचा दिया । यात्रा के बाद जब फिर मरने के लिए जाने लगी तो ठाकुरजी ने उसका पाँव तोड़ दिया । इससे पता चलता है कि जिसे ठाकुरजी चाहते हैं, उसे मरने नहीं देते हैं । जब वह मेरे पास आयी तो हमने उससे कहा कि तुम मरना नहीं । यात्रा में बीस दिन तक रही तो उसकी श्रद्धा मेरे (बाबाश्री के) प्रति हो गयी थी । हमने उससे कहा कि तुम अपने बेटे के नाम पर संकल्प करके अगले वर्ष पूरी ब्रज परिक्रमा कर लेना, इससे तुम्हारे बेटे का कल्याण होगा । उसके पति से भी कहा कि तुम दोनों स्त्री-पुरुष ब्रज चौरासी कोस की यात्रा अगले वर्ष करना । हमने उन दोनों से कहा कि हमें वचन दो तो उन दोनों ने वचन दिया । हमने सोचा कि परिक्रमा के बहाने यह आत्महत्या से तो बच जायेगी । इस घटना को बताने का अभिप्राय यह है कि श्रीजी हैं लेकिन हमारे अन्दर उनके प्रति भाव नहीं है । उस स्त्री के हृदय में पुत्र के मरने से ऐसी चोट लगी कि उसका अन्तिम संस्कार करने उसका शव लेकर वह रेल द्वारा दिल्ली से झाँसी जा रही थी किन्तु मथुरा स्टेशन पर उसके कान में आवाज आई कि तू इसका अन्तिम संस्कार ब्रज में ही कर दे । यह प्रभु की कृपा ही थी । जब मनुष्य भावना लेकर आता है तो उसको अनुभव होता है ।

सत्संग से भाव-शोधन

सहज स्थिति के लिए सत्संग किया जाता है । सत्संग में जो सुनते हो, उसको मनन करो । प्राकृतभाव से बचो । विहारिनदेवजी ने लिखा है कि ब्रज में इस प्रकार रहना चाहिए - "सेइये ब्रज सुंदरी रहिये पूता दूरा दूरी, ओढ़िये गूदरी ।" परम त्याग-वैराग्यमयी रहनी रहते हुए ब्रज की युवतियों में साक्षात् ब्रजगोपियों का भाव रखो, जिससे अंतःकरण परम पवित्र हो जाएगा तो सहज ही ब्रजरस में डूबे रहोगे । श्रीप्रबोधानन्दजी ने वृन्दावनमहिमामृत में लिखा है – **"न कुरु न वद किञ्चिद् विस्मराशेषदृश्यम्"** – सब कुछ भूल जाओ । **"बहुजन समवायाद् दूरमुद्विज्य"** – जहाँ बहुत से लोग इकठ्ठा होकर फालतू बातें करते हों, वहाँ से दूर चले जाओ । जैसे ब्रजवासियों का आपस में झगड़ा हो रहा हो, वे एक दूसरे की निन्दा करते हों, एक साधु दूसरे साधु की निन्दा करता है – इन सबसे दूर रहो । रहिये पूता दूरा-दूरी । भाव दृष्टि में ही घुसने का प्रयास करो तो बड़ा आसान है । हमारी यात्रा में जो घटना घटी, जिसके बारे में अभी हमने बताया, इससे पता चलता है कि श्रीजी हैं और वे किस प्रकार से रक्षा करती हैं लेकिन आवश्यकता यही है कि हम प्राकृत भाव को नष्ट करके उनका अनन्य आश्रय करें । एक बार तो वृन्दावन में ब्रजयात्रा के दौरान यमुना का पानी बहुत बढ़ गया था और स्टीमर

डूबने वाला था, ऐसा लगा कि सब यात्री डूबकर मर जायेंगे । वहाँ – "यमुनाजी तिहारो दरस मोहि भावै" – यह पद हम गाते रहे । कोई मन्त्र हमने नहीं गाया । राधारानी की कृपा से स्टीमर डूबने से बच गया । इससे पता चलता है कि श्रीजी हैं लेकिन जिसके अन्दर जितनी भावना है, उसको उनकी कृपा का अनुभव होता है । जो तू-तू, मैं-मैं में फँसता है, वह भावना से दूर चला जाता है । कुम्भनदासजी अपने घर की छत पर बैठे थे और उनको लीला दिखाई दे रही थी, अन्य किसी को नहीं दिखाई पड़ रही थी । जब चतुर्भुजदासजी ने दूसरी कड़ी को गाया तो कुम्भनदासजी समझ गये कि अरे, इसको भी लीला का अनुभव हो रहा है । उन्होंने पहली कड़ी को गाया था । उनको दिखाई पड़ा कि गिरिराजजी के ऊपर श्रीराधारानी और श्यामसुन्दर चित्रसारी में लेटे हैं और मणिदीपक जल रहा है । चित्रसारी में अन्धकार नहीं है । दोनों राधा-माधव एक दूसरे के मुख को देखना चाहते हैं । इसलिए दीपक जल रहा है । **"वे देखो बरत झरोखन दीपक, हरि पौढ़े ऊँची चित्रसारी ।"** मणि दीपक जल रहा है और दोनों लाल-ललना चित्रसारी में लेटे हुए हैं । इस एक तुक को गाकर कुम्भनदासजी उस रस में डूब गये । कैसा सुन्दर महल है, जहाँ मणि दीपक प्रकाशित हो रहा है । तब तक नीचे उनके पुत्र चतुर्भुजदासजी दूसरी कड़ी गाने लगे । **"सुन्दर बदन निहारन कारण, राखे हैं बहुत जतन करि प्यारी ।"** इस कड़ी को गाकर चतुर्भुजदासजी चुप हो गये तो कुम्भन दासजी का ध्यान गया और वे सोचने लगे – अरे, यह तो मेरा पुत्र चतुर्भुजदास है । इसको भी वही लीला दिखाई पड़ रही है । उदाहरण के लिए मान लो कि एक घर में टेलीविजन पर एक घर वाला जो कार्यक्रम देख रहा है, उसी को दूसरे घर में दूसरा व्यक्ति देख रहा है परन्तु जिसके घर में टेलीविजन नहीं है, वह उस कार्यक्रम को नहीं देख पा रहा है । वही लीला कुम्भनदासजी को दिखाई पड़ रही है, वही लीला चतुर्भुजदासजी को दिखाई पड़ रही है, बाकी अन्य किसी को नहीं दिखाई पड़ रही है । यह शयन का पद है । कुम्भनदासजी सोचने लगे कि राधारानी की कृपा इस पर भी हो गयी है । आगे कुम्भनदासजी ने गाया – **"कंठ लगाय भुज दै सिरहाने, अधर अमृत पीवति सुकुमारी । तन-मन मिली प्रान प्यारे सों, नव रंग-रस बाढ़्यौ अति भारी ॥ कुम्भनदास प्रभु सौभग सींवा, जोरी भली बनी इक सारी । नव नागरी मनोहर राधे, नवल लाल गोवर्धन धारी ॥"** यह एक उदाहरण था । ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिनका भाव दृष्टि से सम्बन्ध है । भक्तमाल में लिखा है कि रसिकों ने राजा मधुकर शाह को दिव्य दृष्टि प्रदान की तो उन्हें ब्रज दिखाई पड़ा । स्वामी हरिदासजी ने अकबर को वृन्दावन में यमुनाजी के चिन्मय घाट का एक कोना दिखाया । ऐसे बहुत से उदाहरण हैं । इसलिए जो अनुभव की परम्परा है, उसके लिए जरूरी है – "परन्तु यदि तद्गतस्थिरचरेषु नो कायवांङ्‌ मनोभिरपराधिता भवति बाधिता तत्त्वधीः ।" होशियार रहो, 'बाधिता तत्त्वधी' अर्थात् प्राकृत भाव नहीं आना चाहिए । इसीलिए सत्संग किया जाता है । केवल भावमयी वृत्तियाँ ही मन में रहें, फिर निश्चय ही अनुभव होता है, ऐसा नहीं कि नहीं होता है । निश्चय ही स्वामिनीजी और श्यामसुन्दर सामने आते हैं । जैसे कि झाँसी की महिला के साथ घटना घटी तो इससे पता पड़ता है कि श्रीजी में कितनी अधिक करुणा है और उन्होंने उस स्त्री को कितना बड़ा अनुभव कराया लेकिन कब कराया, जब उसने अपने को बिलकुल सौंप दिया कि अब तो मुझे मरना ही है और बार-बार उसने आत्महत्या का प्रयास किया किन्तु ठाकुरजी ने उसे बचाया तथा राधारानी ब्रजयात्रा में पहुँचा दिया । मैं बहुत देर तक यही सोचता रहा कि जैसा इस ब्रज परिक्रमा का नाम है - 'राधारानी ब्रजयात्रा' तो राधारानी ने उस स्त्री को अपना लिया, तभी उन्होंने उसको यहाँ भेजा, जबकि कोई भी उस स्त्री को बुलाने नहीं गया । कैसे राधारानी ने उसकी रक्षा की, कैसे उसके विचार बदले, कैसा-कैसा नाटक हुआ ? बात यह है कि लाड़लीजी हैं, हमारे यहाँ वास्तव में उनकी कृपा इसलिए होती है क्योंकि यहाँ ब्रजयात्रा में हर व्यक्ति निष्काम सेवा करता है । नन्दगाँव के आठ-दस गोस्वामी बालकों ने यात्रा में निष्काम सेवा की । ये गोस्वामी होकर यात्रा में रात-रात भर नाचते रहे । यदि मनुष्य अन्य वासनाओं को छोड़कर सच्चाई से चलता है तो उस पर श्रीजी-ठाकुरजी की कृपा होती है । हम लोग हर चीज को धन्धा बना लेते हैं, पैसा कमाने का, नाम कमाने का साधन बना लेते हैं । उससे सारी चमत्कारिता चली जाती है । हमारी दृष्टि नष्ट हो जाती है । इसीलिए व्यासजी ने कहा है कि वह भक्त नहीं है, जो वासनाओं में अंधा है, जो दमड़ी (पैसे) को पकड़ता है, चमड़ी (भोग) को

पकड़ता है, वह कभी भक्त नहीं हो सकता है । "सुने न देखे भगत भिखारी ।" भिखारी माने हम वासना के कारण भीख माँगते हैं, पैसा चाहते हैं । विषयी लोगों के, सेठों के चरण चूमते हैं, हम भक्त नहीं हैं, कलंकी हैं । हम राधारानी के भक्त नहीं हो सकते हैं ।**"तिनके दाम काम को लोभ न, जिनके कुंजबिहारी ॥"** दाम-पैसा, अन्य कामनाओं की ओर जिसकी बुद्धि है, वह भक्त नहीं है, वह भिखमंगा है । जो भिखमंगा विषयी लोगों में विश्वास करता है कि ये सेठ है, ये बड़ा धनी है, क्या वह कभी भक्त हो सकता है, रसिक हो सकता है ? **"विषयिन की परतीति न हरि सों, प्रीति रीति बाजारी ।"** हरि से प्रतीति नहीं है, विषयियों की प्रतीति करता है । वह मूर्ख कहीं राधारानी का रसिक बन सकता है ? उसका प्रेम बाजारू है । वह बाजारू प्रेम करता है । व्यासजी कहते हैं कि ये भिखमंगे आशा में मर जायेंगे कि पैसा मिलेगा, मान-सम्मान मिलेगा । इनको रस नहीं मिलने वाला है । **"व्यास आस सागर में डूबै, आई भक्ति बिसारी ॥"** ब्रज में उसके पास भक्ति आयी थी लेकिन चली गयी, इन्हीं कारणों (संसारियों से आशा, विश्वास करने के कारण) से चली गयी । इसीलिये आशा केवल अपने श्रीइष्टदेव की ही होनी चाहिए, अनन्यता से ही भक्तिमय भावनाओं का आविर्भाव होता है, जिससे सहज ही कल्याण हो जाता है, परमानन्द की रसानुभूति होती है ।

पाप का स्वरूप

बाबाश्री के सत्संग (१०,११/९/२००१) से संकलित

भजन के चार विघ्न जब हट जाते हैं तब निर्विघ्न भजन चलता है । लय, विक्षेप, कषाय, विप्रतिपत्ति – ये चार भजन के विघ्न हैं । भगवान् ने गीता में भी कहा है कि निर्विघ्न-निर्द्वन्द्व भजन एक अलग बात है, उसी को आचार्यों ने कई प्रकार से बढ़ाया है, समझाया है । श्री सम्प्रदाय में तो कपूयाचरण आदि कई नाम बताये गये हैं । उसमें बताया गया है कि तुष्टि हट जाती है तब प्रपन्नता (शरणागति) आती है । अद्वैत सम्प्रदाय में भी इन्हीं चार विघ्नों के बारे में बताया गया है । गीता में भगवान् ने कहा है – **येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।**

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (श्रीगीताजी ७/२७)

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, 'येषां त्वन्तगतं पापम्' - पाप कैसे नष्ट हुए, 'पुण्यकर्मणाम्' – पुण्य कर्म का अर्थ सकाम कर्म नहीं, पुण्य आचरण है । पुण्य कर्म है भगवान् का पुण्य यश सुनना, भगवत्कथा सुनना, उनकी सेवा आदि जितने भी कर्म हैं, ये सब पुण्य हैं । महत्सेवा सबसे बड़ा पुण्य है । पाप का अर्थ है विघ्न । पाप का मतलब लोग यही समझते हैं कि चोरी-छिनारी आदि करना ही पाप है । पाप शब्द की बहुत बड़ी परिभाषा है । श्रीमद्भागवत की रास पंचाध्यायी के अनुसार तो ब्रह्मा,लक्ष्मी, शिव आदि भी अपने पाप को दूर करने के लिए राधा-कृष्ण की चरण रज का आश्रय ग्रहण करते हैं ।

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः । यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥ (श्रीभागवतजी १०/३०/२९)

गोपियाँ कहती हैं – ये देखो युगल चरण रज वृन्दावन में चमक रही है । बहुवचन में कहा गया है क्योंकि यहाँ पर चार चरण हैं, दो राधिका रानी के और दो श्रीकृष्ण के । इन चरण धूलि का आश्रय ब्रह्मा, ईश (महादेव), रमा (लक्ष्मीजी) अपने अघ (पाप) को, नुत्तये – दूर करने के लिए, अपने मस्तक पर धारण करते हैं । इस श्लोक की टीका में आचार्यों ने लिखा है कि लक्ष्मीजी के पास पाप कहाँ से पहुँचा ? वे तो स्वयं भगवान् की नित्य संधिनी शक्ति हैं, महासती हैं, सदा भगवान् के वक्षः स्थल पर विराजने वाली हैं । इसी प्रकार महादेवजी का नाम शिव-शिव कहने से ही पाप जल जाता है, उनके पास पाप कहाँ से आ सकता है ? वस्तुतः पाप का मतलब केवल चोरी-छिनारी ही नहीं है । एकाक्षरी कोष के अनुसार पाप की परिभाषा की गयी है - पाप में प का अर्थ है परमेश्वर, अप का अर्थ है अलग करना – जो चीज भगवान् से अलग कर दे । असली पाप वह है जो भगवान् से अलग कर देता है जैसे महद् अपराध, सदपराध । यहाँ तक कि आगे चलकर ऐश्वर्य को भी विघ्न माना गया है । ऐश्वर्य भावना आते ही माधुर्य भाव विदा हो जाता है । लक्ष्मीजी, जो कि अनन्त ऐश्वर्यशालिनी हैं, उनका ऐश्वर्य ही ब्रज रस की प्राप्ति में एक बाधा बन जाता है । यहाँ तो श्रीजी का शुद्ध आनुगत्य होना चाहिए जैसे – लक्ष्म्या यश्च न गोचरीभवति यन्नापुः सखायः प्रभोः सम्भाव्योपि विरञ्चिनारदशिवस्वायम्भुवाद्यैर्न यः ।

यो वृन्दावननागरीपशुपतिस्त्रीभाव लभ्यः कथम् राधामाधवयोर्ममास्तु स रहोदास्याधिकारोत्सवः ॥ (रा.सु.नि. २३९)
लक्ष्मीजी को जो प्राप्त नहीं हो सका, श्रीकृष्ण के सखाओं को भी प्राप्त नहीं है, ब्रह्मा, नारद, शंकर, सनकादिक को भी नहीं मिलता है, फिर ये मिलता कैसे है ? जो गोपीजन श्रीराधिका के आनुगत्य में हैं, उन्हीं को राधामाधव के एकान्त दास्य का अधिकार-उत्सव प्राप्त होता है । अस्तु, किसी का ऐश्वर्य बाधक है तथा किसी की कोई चीज बाधक बन जाती है । ये सब उस माधुर्य से दूर कर देते हैं, इसीलिए शुकदेवजी ने इन सबको पाप कहा है । लक्ष्मीजी को उनका ऐश्वर्य अलग कर देता है । शिवजी को उनका गुणाधिकार – शिवत्व की पदवी इस रस से दूर कर देती है । जब वे गोपी भाव से रास में आते हैं, वह एक अलग बात है । शिव-शंकर रूप से वे रास में प्रवेश नहीं कर सकते हैं । इसी तरह ब्रह्माजी ने भी साठ हजार वर्ष तक तप किया – **"षष्टि वर्ष सहस्राणि पुरा तप्तं मया तपः ...... ।"** उनको भी यह रस नहीं मिला । इस तरह ब्रह्मा का ब्रह्मत्व, शिव का शिवत्व, रमा का रमात्व बाधक हैं । इसीलिए शुकदेवजी द्वारा भागवत में इन सबको पाप कहा गया । हम लोगों की छोटी बुद्धि है, अतः हम लोग सोचते हैं कि किसी से कोई विकर्म हो गया तो वही पाप है । नहीं, पाप तो बहुत बड़ा है । आपने किसी भक्त का तिरस्कार कर दिया, यह बहुत बड़ा पाप हो गया । इस सन्दर्भ में प्रह्लाद जी का एक विचित्र उदाहरण है । प्रह्लाद जी भक्ति के एक स्तम्भ हैं । एक बार उनसे मिलने के लिए सनकादिक मुनि प्रह्लादजी के महल में गये । उस समय वे भगवत्सेवा में थे और यही उनसे विचित्र पाप हो गया । यह बात समझ में नहीं आ सकती है किन्तु पुराणों में यह कथा है । जब सनकादि आये तो प्रह्लादजी भगवत्सेवा में थे, द्वारपालों ने उनको सूचित किया कि आपसे मिलने के लिए सनकादिक आये हैं परन्तु प्रह्लादजी ने द्वारपालों से कहा कि उनसे कह दो कि अभी मैं भगवत्सेवा में रत हूँ । द्वारपालों ने यह सूचना सनकादिक मुनीश्वरों को दी । अब देखा जाए तो भगवत्सेवा तो पाप नहीं है किन्तु सेवा के कारण इतने बड़े महापुरुषों से न मिलना ही पाप बन गया । सनकादिक चले गये तो प्रह्लादजी को अपराध लग गया । भक्तापराध बुद्धि को भगवान् से अलग कर देता है । यह सिद्धान्त केवल हम जैसे कीड़े-मकोड़ों पर ही नहीं लागू होता अपितु प्रह्लाद जैसे महाभागवत तक पर लागू हो गया । अपराध के कारण भगवत्सेवा करते हुए भी प्रह्लाद जी सोचने लगे कि मैं तो उसी विष्णु का भजन कर रहा हूँ, जिसने नृसिंह अवतार लेकर मेरे पिता का भयंकर रूप से पेट फाड़ दिया । मेरे लिए तो यह आवश्यक था कि पिता की मृत्यु का विष्णु से बदला लेता परन्तु मैं तो दिन-रात नारायण-नारायण कहकर उसके नाम स्मरण में ही लगा रहता हूँ । मेरे असुर कुल का कोई गौरव नहीं रहा । इस तरह सोचते हुए प्रह्लाद जी को आसुरी आवेश आया और उन्होंने वैकुण्ठ पर आक्रमण कर दिया । उस समय वैकुण्ठनाथ भगवान् ने नारद जी का स्मरण किया क्योंकि वे जानते हैं कि प्रह्लाद मेरा परम भक्त है । मेरा इसके साथ युद्ध करना ठीक नहीं है । भगवान् द्वारा स्मरण करते ही नारदजी तुरन्त भगवान् के पास वैकुण्ठ पहुँचे । भगवान् ने उनसे कहा कि आपके शिष्य प्रह्लाद ने मुझसे युद्ध करने के लिए वैकुण्ठ पर हमला कर दिया है । इस समय इसकी बुद्धि ऐसी हो गयी है । भगवान् की बात सुनकर नारदजी तुरन्त प्रह्लाद जी के पास गये । महद् अपराध अपना प्रभाव दिखाता है जैसे सनकादि मुनीश्वरों के अपराध से भगवान् के नित्य पार्षद जय-विजय को वैकुण्ठ से मृत्यु लोक में आना पड़ा परन्तु भगवान् की कृपा तो सदा ही बरसती है । कालान्तर में तो वे अपराधी जीव को भी अपनाते ही हैं लेकिन एक बार के लिए तो उसका दुष्परिणाम दिखायी देता है । नारद जी ने अपने शिष्य प्रह्लाद के पास जाकर कहा – 'बेटा ! तुम क्या करने जा रहे हो ?' प्रह्लाद बोले – 'महाराज ! मैंने वैकुण्ठ पर आक्रमण कर दिया है ।' नारदजी ने पूछा – 'तुम्हारी ऐसी बुद्धि कैसे हो गयी ?' ऐसा कहकर नारदजी ने करुणा के साथ प्रह्लादजी को देखा । बस, महापुरुषों की करुणा ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । भक्त की कृपा भगवान् की कृपा से बड़ी मानी गयी है । नारदजी ने प्रह्लाद से कहा – 'बेटा ! तुम तो माता के गर्भ से ही कितने बड़े भक्त थे और तुम्हारी भक्ति का कैसा चमत्कार था ।' नारदजी ने प्रह्लाद को बहुत देर तक समझाया, इसका यह प्रभाव हुआ कि उन्हें बोध हुआ और अपने अपराध पर बहुत बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उन्होंने तुरन्त ही अपने गुरुदेव नारदजी के चरण पकड़े और बोले – 'गुरुदेव ! बड़ा ही आश्चर्य है कि आज मेरे हृदय में आसुरी भाव कैसे आ गया ?' नारदजी ने कहा –

'वत्स ! अवश्य ही तुमसे कोई पाप हुआ होगा । सोचो, तुमने क्या पाप किया ?' जब प्रह्लादजी ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया तो उन्होंने नारदजी से कहा कि मैं ठाकुरजी की सेवा-पूजा कर रहा था । उस समय सनकादिक मुनि मुझसे मिलने के लिए आये तो मैंने अपने सेवकों को आदेश दिया कि उनसे कह दो कि अभी मैं प्रभु की सेवा में निरत हूँ, सेवा की समाप्ति होने तक वे मेरी प्रतीक्षा करें । नारदजी बोले कि यह अपराध है और इसी अपराध से तुम्हारा ऐसा पतन हुआ । इस अपराध के मार्जन के लिए तुम इसी समय ध्यानस्थ होकर सनकादिक मुनियों की भाव से स्तुति करो । अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार तत्काल ही प्रह्लादजी बैठ गये और ध्यानस्थ होकर अपने हृदय में ही अत्यन्त करुणापूर्वक ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादिक मुनीश्वरों की स्तुति करने लगे । ध्यान में सनकादिक प्रकट हो गये क्योंकि वे भी भगवान् हैं, चौबीस अवतारों में एक अवतार हैं । इस तरह प्रह्लादजी का पाप विमोचन हुआ और वे वैकुण्ठ के आक्रमण से पृथक होकर भगवान् वैकुण्ठनाथ की भक्ति में पुनः स्थित हो गये ।

सूक्ष्म अपराध से भी पतन

श्रीरूप-सनातन आदि षड गोस्वामी गौरांग महाप्रभु के नित्य परिकर हैं । राधामाधव की नित्य लीला में श्रीरूप गोस्वामीजी रूपमंजरीजी हैं । ये श्रीजी की सखी-सहचरी हैं । श्रीजी की मंजरी सखियों ने षड गोस्वामियों के रूप में भूलोक में प्रकट होकर जीवों को भक्तिदान करने के लिए महाप्रभु के परिकर के रूप में धामनिष्ठ विरक्त महापुरुष के रूप में आचरण किया, जिससे कि हम जैसे मूढ़ लोग भी समझ सकें कि वैराग्य क्या है, भजन क्या है ? जैसे श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी अखण्ड ब्रजवास करते हुये साढ़े बाईस घण्टे तक भजन करते थे । हम जैसे वेषधारी तो गद्दा-तकिया-पलंग आदि का प्रयोगकर देर तक सोते हैं, नींद को बुलाते हैं । ये सब विकृतियाँ हम लोगों में हैं । हम जैसे जो सुविधावादी लोग हैं, उनके समक्ष महाप्रभु चैतन्य देव के इन षड गोस्वामियों ने भजन का, वैराग्य का एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया कि चौबीस घण्टे में साढ़े बाईस घण्टे तक भजन कैसे किया जाता है ? वैराग्य क्या है, निष्ठा क्या है, इसका स्वयं आचरण करके उन्होंने हमें समझाया । श्रीरघुनाथदासगोस्वामीजी के बारे में नाभाजी ने भक्तमाल में छप्पय लिखा – 'नौन तक्र ब्रज को लियो ।' श्रीरघुनाथदासजी आहार में केवल नमक मिश्रित आधा पाव छाछ का ही सेवन करते थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रज का दूध-माखन-घी और छप्पन भोग का प्रसाद तक कभी नहीं ग्रहण किया, लड्डू-पेड़ा तो दूर की बात है । इसी तरह रूप गोस्वामीजी ध्यान में बैठते थे तो उनको लीला की अनुभूति होती थी । उन्होंने जानबूझकर कोई अपराध नहीं किया । एक बार वे ध्यान में श्रीराधामाधव की पुष्पचयन लीला देख रहे थे । इस लीला का वर्णन श्रीमद्भागवत में भी इस प्रकार है – **अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना । अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः । प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥** (श्रीभागवतजी १०/३०/३३) रास में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों द्वारा उनका अन्वेषण करने पर एक स्थान पर जब उन्हें युगल सरकार के चरण चिह्न दिखाई पड़े तो उन्होंने अनुमान लगा लिया कि यहाँ पर कौन सी लीला हुई है, मान लीला हुई है कि रमण लीला हुई है अथवा स्कन्धारोहण लीला हुई है । आचार्यों ने इसके बारे में अपनी टीका में संक्षेप में लिखा है । गोपियाँ कहती हैं कि यहाँ पुष्पचयन किया गया है । श्यामसुन्दर ने लाड़लीजी को अपने कन्धे पर बैठाया है । पहले वे श्रीजी को अपने स्कन्ध पर बैठाकर चल रहे थे कि पैदल चलने पर श्रीजी के अत्यन्त सुकुमार चरणों में कोई कष्ट न हो । **"न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।**

खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥" (श्रीभागवतजी १०/३०/३१)

श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों के द्वारा उनका अन्वेषण करती हुई गोपिकायें यह समझती गईं कि यहाँ यह लीला हुई, यहाँ अमुक लीला हुई । यहाँ रमण लीला हुई, यहाँ मान लीला हुई – रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः । कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ युगल सरकार द्वारा अनेक प्रकार के विहार किये गये । पुष्प चयन लीला भी हुई थी । रूप

गोस्वामी पाद ध्यान में पुष्प चयन लीला देख रहे थे । उस लीला में एक वृक्ष की शाखा पर कुछ पुष्प ऊँचाई पर थे । ये वृन्दावन के चिन्मय वृक्ष-लताएँ हैं । लीला वैचित्री के लिये ये अनेक कार्य करते हैं । कभी इनके पुष्प ऊपर हो जाते हैं तो कभी नीचे । भागवत में भी इसका वर्णन है – प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे – प्रपद – पंजों के बल, आक्रमण – उछले अर्थात् पुष्प ऊँचाई पर स्थित होने के कारण उन्हें तोड़ने के लिए रासविहारीलाल अपने पंजों के बल उछले । पुष्प ऊपर थे तो राधारानी ने कहा – 'हे नागरवर ! देखो, जो पुष्प ऊपर की ओर हैं, वे बहुत ही सुन्दर हैं ।' श्रीराधारानी की प्रसन्नता हेतु ऊपर स्थित उन पुष्पों को तोड़ने के लिए श्यामसुन्दर को अपने पंजों के बल उछलना पड़ा । इसको 'प्रपदाक्रमण' कहते हैं । जब श्यामसुन्दर उछले तो उनके पंजों के चिह्न वृन्दावन की दिव्य भूमि पर बनते गये । पंजों के बल श्यामसुन्दर उछलते गये, ये गोपियों को कैसे पता चला – पश्यतासकले पदे – पूरा चरण नहीं है । एड़ी का चिह्न नहीं है, केवल पंजों के बल उछले तो उसके चिह्न भूमि पर गड़ते गये । शुकदेवजी ने तो इस लीला को भागवत में बहुत ही संक्षेप में कहा है । इसका विस्तार अन्य ग्रन्थों में किया गया है कि राधारानी श्यामसुन्दर को दिखा रही हैं कि देखो, ऊपर डाल पर वहाँ सुन्दर पुष्प हैं । श्यामसुन्दर उन्हें लेने के लिए उछले । ये वृन्दावन की दिव्य लताएँ हैं । ये लीला में वैचित्री उत्पन्न करती हैं । कृष्ण उछले तो डाल ऊपर की ओर अधिक उठ गयी और पुष्प हाथ में नहीं आया । लाड़ली जी की प्रियता के लिए पुष्पों को लाना जरूरी है क्योंकि यही उनकी आज्ञा है । जब पुष्प हाथ में नहीं आया तो श्रीजी ने कहा – 'देखो नागरवर ! यह लता तो ऊँची है, तुम्हारे उछलने से भी हाथ में नहीं आती है । कुछ तुम झुकाओ फिर मैं भी हाथ से पकडूँगी । झुकाते जाओ तो लता हाथ में आ जाएगी और वही सुन्दर पुष्प मुझे चाहिये । यह पुष्प सबसे सुन्दर है, सबसे अधिक विकसित (खिला हुआ) है, इसकी सुगन्ध चारों ओर फ़ैल रही है ।' श्यामसुन्दर बोले – 'ठीक है लाड़ली जी ! हम दोनों मिलकर इस पुष्प को तोड़ते हैं ।' श्रीजी ने कहा – 'ठीक है ।' श्यामसुन्दर ने एक डाल को झुकाया और श्रीजी से कहा कि आप इसको पकड़ लीजिये और इसे झुकाइये तो मैं आगे वाली डाल को झुकाता हूँ । श्रीजी ने उस डाल को पकड़ा तो श्यामसुन्दर ने उसे और अधिक झुकाया । इस तरह युगल सरकार इस लीला में वृन्दावन के एक पुष्प के लिए इतना परिश्रम कर रहे हैं । यह वृन्दावन का वैभव है । गोविन्द तो नटखट हैं, उन्हें इस बीच एक परिहास सूझा । श्रीजी ने और बल लगाया तथा बोलीं – 'मैं इस डाल को और झुकाऊँगी तो यह पुष्प तुम्हारे हाथ में आ जायेगा ।' श्रीजी अपने दोनों हाथों से डाल को पूरा झुकाने के लिए लटकीं और बोलीं – 'लो श्यामसुन्दर ! अब तुम इस पुष्प को तोड़ लो ।' उधर श्यामसुन्दर ने पीछे से डाल को छोड़ दिया । जब उन्होंने छोड़ दिया तो श्रीजी ऊपर की ओर उठ गईं । श्यामसुन्दर ने ऐसा क्यों किया था ? ऐसा नहीं समझना चाहिए कि श्रीकृष्ण बड़े चंचल हैं और नटखटपन के कारण उन्होंने ऐसा किया । नहीं, यह तो उनकी रस भरी चपलता है । वे श्रीराधिका रानी के चरणकमलों का स्पर्श चाहते थे । इसके पहले भी इसी कारण से उन्होंने श्रीजी को अपने कन्धे पर बैठाया था । खिद्यत्सुजाताङ्घ्रि.........(भा.१०/३०/३१) । श्रीकृष्ण श्रीजी को अपने कन्धे पर बैठाकर ले गये थे फिर उन्हें कन्धे से उतारा था क्योंकि सुन्दर पुष्पों को देखकर श्रीजी ने कहा – 'अब यहीं रुको । मैं इन पुष्पों को लूँगी ।' अतः यहाँ श्यामसुन्दर की चपलता को साधारण चपलता नहीं समझना चाहिए । वे चाहते थे कि पुष्प चयन करते समय श्रीजी ऊपर को उठ जाएँ तो मैं इनको अपने कन्धे पर उतारूँ । यह है तो एक कुतूहल परन्तु श्रीरूप गोस्वामी पाद को ध्यान में इस लीला की अनुभूति हो रही थी । जब लीला में उन्होंने इस प्रकार श्यामसुन्दर की चपलता को देखा तो वे हँसने लगे । इतने में ही वहाँ सामने से एक ब्राह्मण जा रहा था, वह पैरों से विकलांग था तो उसकी चाल भी ऐसी थी कि उसको चलता देखकर लोग हँसने लगते थे । रूप गोस्वामीजी की आँखें बन्द थीं । उन्हें बाह्य जगत का कुछ भी अनुसन्धान नहीं था । उन्हें पता भी नहीं था कि अपने पैरों से विवश कोई विकलांग जा रहा है । उनको तो ध्यान में यही लीला दिखाई पड़ रही थी कि श्यामसुन्दर ने डाल को पकड़कर छोड़ दिया और श्रीजी ऊपर की ओर उठ गयी हैं । वे भी मुस्कुरा रही हैं । उन्होंने अपने चपल प्रियतम से पूछा – 'अच्छा, अब तुम मुझे नीचे उतारोगे कि नहीं ?' प्रियतम बोले – 'हाँ-हाँ

लाड़लीजी ! अभी उतारता हूँ ।' इन्होंने तो श्रीजी के सुन्दर-सुकुमार श्रीचरणों का स्पर्श पाने हेतु और उन्हें सुखी करने के लिए ही यह लीला चापल्य किया था । जब इस लीला को देखकर रूप गोस्वामीजी हँसे तो उधर विकलांग बाबा के मन में बड़ा ही दुःख हुआ और वे सोचने लगे कि रूपजी तो इतने बड़े महात्मा हैं । अन्य लोग मेरी चाल को देखकर हँसते हैं, मेरा परिहास करते हैं तो वे तो अज्ञानी हैं परन्तु ये तो इतने विद्वान् महापुरुष होकर भी आज मेरे अंग का उपहास कर रहे हैं । यह कितने दुःख की बात है । ये इतने बड़े भजनानन्दी और अत्यधिक पठित होने पर भी मेरे अंग की इस विकृति का उपहास कर रहे हैं । यह विचारकर विकलांग ब्राह्मणदेव को बड़ा ही दुःख हुआ । वह दुखी होकर चला गया और इधर रूप गोस्वामी जी को लीला की स्फूर्ति बन्द हो गयी । यही पाप है । हम जैसे साधारण लोग यही समझते हैं कि पाप का अभिप्राय यही है कि किसी ने चोरी कर ली, व्यभिचार कर लिया अथवा अन्य कोई विकर्म कर लिया । सूक्ष्म पाप को हम लोग नहीं समझते हैं । लीला की स्फूर्ति में विराम हो जाने पर रूप गोस्वामीजी विकल हो गये और सोचने लगे कि ऐसा कैसे हो गया, अभी तो इतनी सुन्दर लीला की अनुभूति हो रही थी । जिस प्रकार मणिधर सर्प मणि से अलग होते ही मृततुल्य हो जाता है, उसी तरह लीला स्फूर्ति के बन्द होते ही श्रीरूप गोस्वामी जी व्याकुल होकर अत्यधिक विलाप करने लगे । उन्हें तीव्र विरह का अनुभव होने लगा और वे सोचने लगे कि मेरी इस विरहाग्नि का शमन कैसे होगा ? अपनी समस्या के समाधान हेतु वे श्रीसनातन गोस्वामी पाद के पास गये । यद्यपि सनातनजी रूपजी के भाई थे और आयु में उनसे अधिक थे किन्तु रूपजी ब्रज में पहले आये थे, इसीलिए रूपजी का नाम सनातन जी के पहले लिया जाता है । अपने बड़े भाई सनातन जी के पास जाकर रूपजी ने उन्हें अपनी सारी समस्या बताई और इसका कारण पूछा तो सनातनजी ने कहा – 'रूप ! यह अपराध अर्थात् पाप तो जीव को नित्य धाम से भी अलग कर देता है ।'

पुराणों में कथा है जैसे श्रीदामा नामक गोप को गोलोक धाम में शाप मिला तो वे मृत्य लोक में आये और शंखचूड असुर बने । इस बात को विस्तार से चैतन्य चरितामृत में बताया गया है कि भक्ति की लता बढ़ते-बढ़ते नित्य धाम तक पहुँच जाती है परन्तु महद् अपराध (भक्तापराध) के कारण वह भक्ति रूपी लता जड़ से नष्ट हो जाती है । इसे हाथी माथा की संज्ञा दी गयी है जैसे कोई मदमत्त हाथी किसी विशाल लता को अपनी सूँड के द्वारा जड़ से उखाड़ देता है । इसी प्रकार महद् अपराध जीव को जड़ से उखाड़ देता है, चाहे उसकी भक्ति की लता नित्य धाम तक ही क्यों न पहुँच गयी हो । इसलिए मनुष्य को सदपराध से, महद् अपराध (महापुरुषों के, भक्तों के अपराध) से बचना चाहिए । भागवत में तो विस्तार से इस पाप का उल्लेख किया गया है । ब्रह्माजी कहते हैं – **तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।**

क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥ (श्रीभागवतजी ४/६/४)

यह बहुत ही प्रसिद्ध श्लोक है । इसे आचार्यों ने बहुत जगह लिखा है । जब दक्ष की सभा में शिव जी का अपराध हुआ और फिर दक्ष का वध हुआ तथा देवताओं पर संकट आया तो वे ब्रह्माजी की शरण में गये । उस समय ब्रह्माजी ने कहा कि यदि अपने से बड़े महापुरुष के द्वारा कोई दोष बन जाता है, किसी निर्दोष को बिना किसी गलती के, बिना अपराध के भी वे दण्ड देते हैं तब भी उनके प्रति अपने मन में किसी प्रकार का अभाव मत लाओ । देवताओं की सभा में शिवजी ने दक्ष को प्रणाम नहीं किया । यद्यपि दक्ष शिवजी के श्वसुर थे, पिता के ही समान थे, उनको शिवजी ने प्रणाम नहीं किया तो दक्ष को इसका प्रतीकार करने (बदला लेने) की सोचना भी नहीं चाहिए क्योंकि इससे बहुत बड़ा अपराध लग जाता है । भागवत के चौथे स्कन्ध में यह प्रसंग है कि किस प्रकार दक्ष के द्वारा शिवजी का अपमान करने और अंत में सती के द्वारा दक्ष के यज्ञ में अपने देह त्याग के पश्चात् जब शिव जी के सेवकों ने समस्त देवताओं को हरा दिया और उनके अंग-प्रत्यंग शिवजी के भूत-प्रेतों के आयुधों से छिन्न-भिन्न हो गये तब वे देवगण ऋत्विज और सदस्यों के सहित बहुत ही डरकर ब्रह्माजी के पास पहुँचे तथा उन्हें सारे वृत्तान्त की सूचना दी । देवताओं ने यह भी कहा कि शिवजी को अपने पिता समान श्वसुर दक्ष को प्रणाम तो करना ही चाहिए था और बाद में उनके गणों के द्वारा हम लोगों को जो दण्ड दिया गया, उसमें हमारा तो कोई दोष भी नहीं था । उनकी सारी बातें सुनकर ब्रह्माजी ने अपना फैसला सुनाया । श्री मैत्रेय मुनि ने कहा -

तदाकर्ण्य विभुः प्राह – विभु अर्थात् ब्रह्माजी ने कहा – तेजीयसी कृतागसि - तेजस्वी पुरुष यदि अपराध भी कर दे तो यदि उससे बदला लेने की कोई व्यक्ति सोचता है अथवा क्रोध करता है तो उस व्यक्ति का कल्याण नहीं होता, बल्कि उसका विनाश हो जाता है क्योंकि उस व्यक्ति को महद् अपराध लग जाता है । इसलिए बड़ों के द्वारा गलती किये जाने पर भी उनके समक्ष सिर झुकाकर (प्रणाम करके) चले जाओ । अस्तु, रूप गोस्वामी जी को लीला की अनुभूति बन्द होने पर उनके अग्रज सनातन गोस्वामीजी ने कहा कि तुम्हारे द्वारा कोई अपराध हो गया है क्योंकि बिना अपराध के लीला स्फूर्ति बन्द नहीं हो सकती है ।

हमारे मन से काम-क्रोध आदि विकार क्यों नहीं समाप्त होते हैं, इसका कारण है पाप अन्यथा एक कृष्ण नाम से, श्रीजी के एक नाम से ही माया भस्म हो जानी चाहिए लेकिन ये विकार मन में चक्कर लगाते रहते हैं, कभी काम आता है, कभी क्रोध आता है । ये कामादि पहलवान हम जैसे लोगों को हजार बार धराशायी करते रहते हैं, क्यों ? इसका कारण यही है कि हमारे द्वारा भक्तापराध होता रहता है । इसीलिए ये विकार हमारे मन से जाते नहीं हैं । सनातन जी ने रूप जी से कहा कि निश्चय ही तुम्हारे द्वारा कोई अपराध हुआ है । अपने बड़े भाई की बात सुनकर रूपजी सोचने लगे कि मैं तो सुबह से ही आँख बन्दकर ध्यान में बैठा था, ऐसी स्थिति में मेरे द्वारा अपराध कैसे हो सकता है ? इससे पता चलता है कि पाप की कितनी सूक्ष्म गति है ? सनातन जी बोले – 'रूप ! गम्भीरतापूर्वक सोचो कि तुमसे क्या अपराध बन गया ?' रूपजी ने कहा – 'भइया ! मेरी कुछ समझ में नहीं आता क्योंकि मैंने तो सुबह से ध्यान में बैठने के बाद आँख ही नहीं खोली थी ।' सनातन जी भी आश्चर्यचकित हो गये और बोले कि तुम्हारी बात तो ठीक है ।

भक्त ही भक्तापराध करता है । विदेश से, इंगलैंड-अमेरिका से कोई भक्तापराध करने नहीं आएगा । आपस में ही हम लोग भक्तों के प्रति अपराध करते रहते हैं । वस्तुतः साधक भक्त भी तो भक्त ही है । जिस प्रकार किसी राजनीतिक पार्टी जैसे कांग्रेस पार्टी की सदस्यता हेतु पाँच रुपये का टिकट खरीदकर सदस्य बनने वाला भी उसी पार्टी का सदस्य कांग्रेसी माना जाता है और जो उस पार्टी का मन्त्री है, वह भी कांग्रेसी है । दोनों ही एक पार्टी के सदस्य हैं । उसी प्रकार एक साधक भक्त भी भक्त है और सिद्ध भक्त भी भक्त है । साधक भक्त का भी अपराध नहीं करना चाहिए । जैसा कि भागवत में नारदजी ने कहा है – **"न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।"** भगवान् उस मनुष्य के भजन को कभी स्वीकार नहीं करते हैं, क्यों ? **श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥** (भा.४/३१/२१) नारदजी ने प्रचेतागणों को उपदेश देते हुए बताया कि भक्ति है तो बहुत सरल परन्तु भक्तापराध से बचना चाहिए । हम जैसे लोग प्रायः यही अपराध करते रहते हैं जैसे साधु-वैष्णव समाज में एक दूसरे की निन्दा करते हुए वे कहते हैं कि रामदास तो बड़ा गलत कार्य करता है, वह बहुत लोभी है । श्यामदास तो बहुत ही निकृष्ट है, अन्य दूसरा साधु-वैष्णव तो इस तरह का अनुचित कार्य करता है, वह बड़ा ही अहंकारी है, उसको कोई ज्ञान तो है ही नहीं, वह तो पूरा मूर्ख ही है । इस तरह जीभ के द्वारा धाराप्रवाह एक-दूसरे की निन्दा होती रहती है और यह सब करके भी हम समझते हैं कि हम बड़े ही बुद्धिमान हैं । हमने इस तरह सबकी कितनी उत्कृष्ट आलोचना की, हम तो वास्तव में हीरे की परख करने वाले जौहरी हैं । हम तो विशेष रूप से जानने वाले विशेषज्ञ हैं । अब इस तरह का अहंकार कि हम जौहरी हैं, हीरे और कोयले में अन्तर करना जानते हैं । यही अहंकार हमारा विनाश कर देता है । इसी प्रकार वर्तमान काल में साम्प्रदायिक द्वेष में एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय की आलोचना करते हुए कहते हैं कि हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं । विशाखा सखी के अवतार, श्रीहित हरिवंश महाप्रभु और स्वामी हरिदासजी के प्रति समान निष्ठा रखने वाले राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनन्य रसिक श्रीहरिरामव्यासजी ने इसी विकृति के बारे में लिखा है – **"अपने अपने मद मत भूले, कहत आपनी भाई । कह्यो हमारो बहुत करत हैं, बहुतन में प्रभुताई ॥"** कोई कहता है कि हम बहुत ही उच्च स्तर की कथा करते हैं । मेरी कथा में पाँच हजार लोग आते हैं । समाज में हमारी इतनी प्रभुता है । व्यासजी कहते हैं – "कहत सुनत बहुतै दिन बीते, भक्ति न मन में आई । श्याम कृपा बिन, साधु संग बिन कहो कौने रति पाई ॥" यह सब अपराध का मार्ग है । पाँच हजार लोग हमारी

कथा सुन रहे हैं, इसी बात का लोगों को गर्व हो जाता है । गुरु बनकर लोग कहते हैं कि देखो, मेरे इतने अधिक शिष्य हैं और सारा सम्प्रदाय मेरे आगे नतमस्तक हो जाता है । ये जगद्गुरु महाराज हैं । इनकी सभी लोग साष्टांग वन्दना करते हैं । व्यासजी कहते हैं कि ऐसी भावनाएँ ही तो मुख्य पाप है । "मैं समझी काहू न समझी मैं सबहिन समुझाई ।" लोग कहते हैं कि रस का ज्ञाता तो मैं हूँ । अन्य कोई इस रस को क्या जान सकता है ? मैं ही भक्ति को जानने वाला हूँ । कोई दूसरा इसे नहीं जान सकता है । मैं ही सभी को निकुंज रस के बारे में और भक्ति के बारे में समझाता हूँ । व्यासजी कहते हैं कि ये सब केवल अपराध की बातें हैं । "भोरे भक्त हुते सब तबके हमरे अधिक चतुराई । हमही अति परिपक्व भये हैं, औरन के सबै कचाई ॥" रस और भक्ति के तथाकथित विशेषज्ञ कहते हैं कि देखो, इस मार्ग के प्रति मेरी कैसी अनन्य निष्ठा है । किसी दूसरे रस एवं भक्ति के ज्ञाता के बारे में कहते हैं कि अरे, यह तो आजकल का बालक है, यह भला क्या जानता है ? "कहन सुहेली रहन दुहेली बातन अधिक बड़ाई ।" व्यास जी कहते हैं कि यह अपराध कौन करता है ? भक्त ही करते हैं । "हरि मन्दिर माला धरि गुरु करि जीवन के अधमाई ॥" हरि मन्दिर अर्थात् मस्तक पर वैष्णव तिलक शोभित है, गुरु दीक्षा भी ले ली है और हाथ में माला धारण की है परन्तु "दया दीनता दास भाव बिन मिलै न कुँवर कन्हाई ।" हृदय में दया, दैन्य और दास भाव के बिना श्रीराधामाधव की प्राप्ति नहीं हो सकती है । पिछले प्रसंग पर वापस आते हैं, पाप की ऐसी सूक्ष्म गति है कि श्रीरूप गोस्वामी पाद ने अपने अपराध का बहुत अनुसन्धान किया किन्तु उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं चल सका । सनातन गोस्वामीजी ने उनसे कहा कि यहाँ आसपास जितने भी साधु-संत-वैष्णव आदि निवास करते हैं, इनके लिए समष्टि भोज (बड़ी पंगत) का आयोजन करो तथा इस सामूहिक भोज के मध्य ही खड़े होकर सभी से क्षमा माँगते हुए हाथ जोड़कर कहो - 'हे वृन्दावन के परम पूज्य सन्त-वैष्णवजन ! मेरा आप लोगों के प्रति कुछ अपराध अवश्य ही हुआ है । इसके लिए मैं आप सभी से क्षमा माँगता हूँ । मैं अपने अपराध को समझ नहीं पा रहा हूँ । आप पूज्यजन मेरे ऊपर कृपा कीजिये, जिससे कि मुझे राधा-माधव की कृपा पुनः प्राप्त हो सके ।'

बड़े भाई की आज्ञा का श्रीरूप जी ने तुरन्त ही पालन किया और अपने निकटवर्ती समस्त साधु-वैष्णवों को सामूहिक भोज के लिए आमन्त्रित किया । उसी स्थान के निकट ही वे विकलांग वैष्णव भी रहते थे, पंगत के लिए निमन्त्रण मिलने पर उन्होंने कहा कि मैं रूपजी के यहाँ भोजन करने क्या जाऊँ किन्तु उनसे कहा गया कि आप अवश्य ही चलो । पंगत तो ऐसी वस्तु है कि सभी लोग उसका रसास्वादन करना चाहते हैं । इसलिए विकलांग वैष्णव भी रूपजी के यहाँ पंगत में पधारे । सभी लोग तो त्यागी होते नहीं हैं । वे विकलांग वैष्णव रूप गोस्वामीजी के विशाल व्यक्तित्त्व को नहीं समझ पाए क्योंकि वे बहुत ऊँची स्थिति के नहीं थे किन्तु पंगत के नाम पर अवश्य ही आये । उनका व्यक्तित्त्व हम लोगों की तरह ही था जो स्वादिष्ट भोजन और संग्रह के प्रति विशेष अनुरक्त होता है । सभी साधु-वैष्णव जब समष्टि भोज के लिए बैठ गये तो श्री रूप गोस्वामीजी अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री सनातन गोस्वामी पाद के संकेत पर सबके सम्मान में हाथ जोड़कर खड़े हो गये क्योंकि वे तो अत्यधिक विनम्र महापुरुष थे । अश्रु विसर्जन करते हुए उन्होंने कहा – 'हे परम पूज्य सन्त जन ! हे वैष्णव जन ! आप सभी मेरे ऊपर कृपा कीजिये, जिससे कि मुझे श्रीराधारानी और उनके कान्त श्रीकृष्ण के चरणकमलों की रति प्राप्त हो जाए । मुझसे कोई अपराध बन गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण से मेरा मन भजन में कम लगता है ।' रूप गोस्वामीजी ने यह नहीं कहा कि मुझे जो लीला की अनुभूति होती थी, वह बन्द हो गयी है । वास्तव में जब भजन में मन नहीं लगता है तो उसका एकमात्र यही कारण है । भजन में मन न लगने का कारण यही है – महद् अपराध, अन्य कोई दूसरा कारण नहीं है । इससे थोड़ी ही देर में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य जड़ से समाप्त हो जाते हैं, सारी साधना नष्ट हो जाती है । जब अत्यन्त दैन्य भाव से श्री रूप जी ने सभी सन्तों से अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी तो अब उन विकलांग बाबा को अवसर मिल गया । उन्होंने रूपजी से कहा – 'महाराज ! आप हैं तो बहुत बड़े विद्वान्, बहुत बड़े महात्मा लेकिन हमारे जैसे जिस जीव को परमात्मा ने शरीर से अपंग (लंगड़ा) बना दिया, उसको देखकर आप हँसते हैं, यह तो कोई अच्छी बात नहीं है ।' सनातन गोस्वामीजी तुरन्त ही समझ गये कि यहीं पर मामला

गड़बड़ है । रूपजी तो कुछ बोल ही नहीं सके, वे तो अतिशय दैन्य की मूर्ति थे, करुण भाव से उनके नेत्रों से केवल आँसू ही बह रहे थे । सनातन जी ने पूछा – 'कहिये महाराज ! आपके प्रति क्या अपराध हो गया ?' विकलांग बाबा बोले – 'अरे सनातन जी ! एक बार मैं इसी रास्ते से होकर रूप महाराज की भजन कुटीर के सामने से होकर जा रहा था । उस समय ये मेरी चाल को देखकर हँसने लगे । मुझे भगवान् ने लंगड़ा बना दिया । दुनिया मेरी चाल को देखकर हँसती है और मुझे अनेक नामों से पुकारती है परन्तु ये तो इतने बड़े महात्मा हैं, फिर भी साधारण लोगों की तरह ये भी मेरी चाल को देखकर हँसने लगे । क्या इनको ऐसा करना चाहिए ?' उनकी बात सुनकर तुरन्त ही सनातन जी ने रूप जी को संकेत किया कि इन्हीं के चरण पकड़कर क्षमा माँगो । सनातनजी को पता चल गया था कि रोग कहाँ है ? अब रूप गोस्वामी पाद् ने विकलांग साधु के चरण पकड़कर बड़ी ही विनम्रतापूर्वक उनसे क्षमा माँगी और कहा – 'महाराज ! वास्तविकता यह है कि उस दिन मैं आपको देखकर नहीं हँसा था । मुझे तो यह पता भी नहीं था कि आप कब आये और कब चले गये ?' अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए श्रीरूप जी ने उन विकलांग साधु को बहुत तरह से समझाया और उनके हृदय के ताप को दूर किया । ऐसा करने के पश्चात् जब वे लीला चिन्तन करने के लिए बैठे तो पुनः उनके हृदय में राधा-माधव की सरस लीलाओं का स्फुरण होने लगा ।

इस प्रकार भक्तापराध के सन्दर्भ में प्रह्लादजी एवं रूप गोस्वामी जी का उदाहरण दिया गया क्योंकि बिना उदाहरण के सिद्धान्त ठीक तरह से मस्तिष्क में जमता नहीं है कि वास्तविक पाप क्या है क्योंकि प्रह्लादजी के लिए तो भगवत्सेवा ही पाप बन गयी, रूप गोस्वामी जी लीला का ध्यान कर रहे थे किन्तु वह लीला ध्यान भी उनके लिए पाप बन गया । इससे पता चलता है कि पाप की गति कितनी सूक्ष्म है ? अतः सतत सावधानी के लिए सत्संग की अति आवश्यकता है ।

भजन के विघ्न

एक आदर्श उदाहरण है भगवान् राम के छोटे भाई भरत जी का । रामजी द्वारा चौदह वर्ष के लिए वन चले जाने पर सभी ने भरत जी से कहा कि इस समय आप राजसिंहासन पर आसीन होइये । भरत जी ने स्पष्ट मना करते हुए कहा कि आप लोग मुझे राजसिंहासन पर विराजमान कराओगे तो यह सिंहासन रसातल में चला जायेगा । मेरे जैसा महापापी, जिसके कारण मेरे प्रभु को चौदह वर्षों के लिए वनवास का कष्ट भोगना पड़ रहा है, उन्हीं के सिंहासन पर बैठने से इस राजसिंहासन की यह दुर्गति होगी । इसलिए अब मैं तो उनको मनाकर वापस अयोध्या लाने के लिए वन में जाऊँगा । राम को मनाकर अयोध्या लाने की बात सुनकर सभी अयोध्यावासी वन जाने के लिए तैयार हो गये, तीनों माताएँ भी वन गमन हेतु प्रस्तुत हो गईं । उस समय जो अयोध्या राज्य के शुचि सेवक थे, उन्होंने कहा कि इस समय हम लोग यदि राज्य की सेवा छोड़कर रामजी के दर्शन हेतु चले जायेंगे तो हमसे बड़ा पापी और कोई नहीं होगा क्योंकि हमारे ऊपर अवध की रक्षा, अवध की सेवा का भार है ।

मैंने बहुधा यह विकृति आजकल के साधु-वैष्णव समाज में देखी है कि किसी आश्रम-मन्दिर में रहने के लिए कोई साधक आता है तो अपनी दैनिक उपासना-भजन की नियम पूर्ति तो कर लेता है परन्तु जब मन्दिर में किसी सेवा का, मन्दिर में बुहारी लगाने का अथवा अन्य किसी भी सेवा का अवसर आता है और सेवा के लिए उससे कहा जाता है तो तुरन्त ही इनकार करते हुए वह कहता है कि यह मेरे भजन का समय है । वह अपनी व्यक्तिगत उपासना या भजन के नाम पर सेवा के लिए प्रस्तुत नहीं होता है, जबकि उसी समय किसी अन्य के साथ व्यर्थ की बातचीत करने में देर तक समय को खूब नष्ट करता है लेकिन आधुनिक काल के वेषधारी साधक सेवा को प्रपंच समझते हैं । वस्तुतः वैष्णव शास्त्रों के अनुसार यह अपराध है । अयोध्या के शुचि अर्थात् केवल सेवक नहीं अपितु श्रेष्ठ पवित्र सेवकों ने कहा –

संपति सब रघुपति कै आही । जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही ॥

तौ परिनाम न मोरि भलाई । पाप सिरोमनि साइँ दोहाई ॥

हमारी जो सेवा है, उसको छोड़कर हम लोग प्रभु राम का दर्शन करने नहीं जायेंगे । यदि सेवा को छोड़कर हम उनका दर्शन करने वन में चले जायेंगे तो हम राम की सौगन्ध खाकर कहते हैं कि हमारे समान महापापी इस पृथ्वी पर अन्य कोई नहीं होगा । प्रभु की सेवा छोड़कर यदि हम प्रभु का दर्शन करने चले जाते हैं तो हमसे बड़ा पापी इस संसार में अन्य कोई नहीं है । **"अस बिचारि सुचि सेवक बोले । जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ॥"** (श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड – १८६) रामजी को बुलाने के लिए भरत जी के द्वारा माताओं और गुरुदेव तथा समस्त अयोध्यावासियों सहित वन में जाने के समय ऐसे शुचि (पवित्र) सेवकों को बुलाया गया जो भक्ति का रहस्य जानते थे और जो अपने सेवा धर्म से कभी भी, किसी भी परिस्थिति में हटे नहीं, कभी सेवा धर्म में विचलित नहीं हुए । उनको अयोध्या की राज्य व्यवस्था का समस्त प्रबन्ध सौंपकर भरतजी रामजी को बुलाने के लिए वन में गये ।

पाप के कारण ही भजन के विघ्न – लय, विक्षेप, कषाय, विप्रतिपत्ति आदि उत्पन्न हो जाते हैं । इन सभी के निवारण के भिन्न-भिन्न उपाय हैं । भजन के चार विघ्न हैं । उनको जानना बहुत आवश्यक है । औषधि लेने से ज्यादा जरूरी है पथ्य । निम्बार्काचार्य जी ने कहा है – "विरोधिनो......" विरोधी तत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है अन्यथा घड़े में छेद है, पानी डालते जाओ तो घड़ा कभी नहीं भरेगा । भजन के चार मुख्य विघ्नों के बारे में जानना बहुत आवश्यक है क्योंकि रोग के उपचार के लिए औषधि लेने से भी ज्यादा जरूरी है पथ्य (परहेज करना) । निम्बार्काचार्यजी ने लिखा है –

'विरोधिनोरूपंऽथापि ज्ञेयम्' - विरोधी तत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है अन्यथा घड़े में छेद है, पानी डालते जाओ तो घड़ा कभी नहीं भरेगा । अस्तु, भजन के चार मुख्य विघ्नों में पहला विघ्न है – लय । भजन का दूसरा विघ्न है – विक्षेप, तीसरा विघ्न है कषाय तथा चौथा विघ्न है विप्रतिपत्ति । इन चारों का क्या स्वरूप है ? इनकी औषधि अर्थात् इनका निदान क्या है ? लय है झोंका आना अथवा नींद आना, तन्द्रा आना-आलस्य होना । इसीलिए शास्त्र में विद्यार्थियों के लिए ब्रह्म मुहूर्त में विद्याध्ययन करने के लिए कहा गया है क्योंकि उस समय चित्त सतोगुण के संस्कार से भरा रहता है । सफ़ेद धोती पर रंग चढ़ जाता है और जो तारकोल या डामर की काली धोती है, उस पर रंग नहीं चढ़ता है । ऐसा भगवान् ने भी भागवत के एकादश स्कन्ध में कहा है – **सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।**

सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ (श्रीभागवतजी ११/१३/२)

सतोगुण से भक्ति रूपी लक्षण (धर्म) बढ़ता है । भागवत के ११ वें स्कन्ध में भी भगवान् ने जहाँ गुणों का वर्णन किया है, वहाँ कहा है कि भजन करने वाले की रहनी सात्विक होनी चाहिए । बहुत से लोग रसिक बनने के पीछे मनमानेपन की रहनी, राजस-तामस रहनी अपनाते हैं । उससे भजन के संस्कार चित्त पर नहीं बन पायेंगे । ये भगवान् के वचन हैं । खाना-पीना, कपड़ा आदि चीजें अर्थात् रहन-सहन की १० चीजें हैं । ये सात्विक होनी चाहिए । जो लोग मनमानापन करते हैं, उन्हें इसका दण्ड मिलता है । उनकी वृत्ति राजस-तामस ही रहती है । सफ़ेद धोती पर ही तो रंग चढ़ेगा । सफ़ेद रंग है सतोगुण का । "अजां एकां लोहित शुक्ल सृजमानां स्वरूपा.........ततोन्यः ।" इसीलिए हर चीज सात्विक होनी चाहिए जैसे सात्विक लोगों से बोलना, उन्हीं का संग करना, सात्विक भोजन करना, सात्विक वस्त्र पहनना आदि । ये दस चीजें हैं । ये दसों जब सात्त्विक होंगी तो बहुत जल्दी हमारे मन पर भजन का सच्चा संस्कार पड़ेगा और जल्दी पड़ेगा, जैसे यह उदाहरण दिया गया कि सफ़ेद धोती पर ही रंग चढ़ता है । आजकल यह दूसरी बात है कि हमारे जैसे जो मूढ़ हैं, वे हठी हैं, दुराग्रही हैं । वे इन सब बातों पर ध्यान नहीं देते हैं, इन्हें मानते नहीं हैं । वे समझते हैं कि ये सब व्यर्थ की बातें हैं क्योंकि हम तो भक्त हैं, रसिक हैं, गुणातीत पुरुष हैं । इस बात पर विचार करना चाहिए कि जब सनातन गोस्वामी जी बहुत कीमती कम्बल ओढ़कर चैतन्य महाप्रभु से मिलने के लिए बंगाल से काशी की ओर चले और गौरांग महाप्रभु से भेंट होने पर उनकी दृष्टि बार-बार सनातन गोस्वामी जी के कीमती भूटानी कम्बल की ओर जाती थी तो सनातन जी समझ गये कि यह जो मेरा कम्बल है, महाप्रभु जी की दृष्टि बहुत बार इस पर गयी है । जो बुद्धिमान व्यक्ति

होता है, वह थोड़ी देर में ही वास्तविकता को समझ जाता है और जो हम जैसा मूढ़ होता है, उसको पचास बार समझाओ तब भी नहीं समझेगा । डंडा लगाओ तब भी वह नहीं समझता है । ऐसे-ऐसे जड़ जीव होते हैं । चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी जी से यह नहीं कहा कि तुम इतने बहुमूल्य कम्बल को छोड़ दो किन्तु उनके द्वारा बारम्बार उस पर दृष्टि डालने पर सनातन जी समझ गये । श्रद्धावान पुरुष का यही लक्षण होता है । यह घटना काशी की है । काशी में बहुत से भिक्षुक रहते हैं । तीर्थों में विशेष रूप से भिक्षुक अधिक रहते हैं और काशी के बारे में तो कहा जाता है –

रांड सांड सीढ़ी सन्यासी, इनसे बचे तो सेवै काशी ।

इसलिए सनातन जी एक भिक्षुक के पास गये । उसके पास एक बहुत ही फटी हुई जीर्ण-शीर्ण गुदड़ी थी । सनातन जी ने हाथ जोड़कर उससे कहा कि क्या तुम मुझसे यह भूटानी कम्बल लेकर बदले में अपनी गूदड़ी दे दोगे ? उस भिक्षुक ने समझा कि ये मुझसे मजाक कर रहे हैं क्योंकि इतने कीमती भूटानी कम्बल को देकर कोई फटी-पुरानी गूदड़ी को लेना चाहे तो इसको मजाक ही तो समझा जायेगा किन्तु वह मजाक तो था नहीं । सनातन गोस्वामी ने सच में ही उस कीमती कम्बल को देकर उस भिक्षुक से उसकी फटी-पुरानी गूदड़ी ले ली और उसे ओढ़कर चैतन्य महाप्रभु के पास पहुँचे तो वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले – 'वाह ! अब तुम भजन कर लोगे ।' उस समय महाप्रभु ने उपदेश दिया – "भालो न खाइये भालो न पहरिये ।" तात्पर्य है कि भक्ति मार्ग के साधक को न तो अच्छा भोजन करना चाहिए और न ही बढ़िया वस्त्र पहनने चाहिए । महाप्रभु ने सनातन जी को भक्ति विषयक बहुत ही दिव्य उपदेश दिए । भगवान् ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में कहा है – "सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।" हमारा जो भक्ति लक्षण धर्म है, वह सतोगुण पर ही अपना प्रभाव दिखायेगा । सफ़ेद धोती पर ही रंग चढ़ेगा । ये भगवान् के वचन हैं । "सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ।" जब तुम सात्त्विक उपासना करोगे तो भक्ति धर्म दौड़ेगा । भक्ति धर्म दौड़ने का अभिप्राय है कि सात्त्विक विधि से उपासना करने पर ही तुम्हारे चित्त पर भक्ति के संस्कार स्वाभाविक ही अंकित होंगे अन्यथा नहीं होंगे । काली धोती पर कितना भी रंग चढ़ाते जाओ, उस पर रंग नहीं चढ़ेगा । हमारी वृत्तियाँ राजस-तामस हैं, ऐसी वृत्ति वाला यदि साधन करता भी है – "ततो धर्मः प्रवर्तते – प्रकृष्टेन वर्तते" सात्त्विक उपासना का मतलब है दस चीजें ।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च । ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ (श्रीभागवतजी ११/१३/४)

एक नुस्खा है जैसे किसी ने कहा कि सितोपलादि चूर्ण में बीस-तीस वस्तुयें पड़ती हैं । इनको मिलाने पर सितोपलादि चूर्ण बनेगा । यदि दसों चीजें सात्त्विक हैं तो निश्चित ही आपके भीतर सतोगुण का विकास होगा । इन दस चीजों में पहला है आगम अर्थात् शास्त्र या साहित्य । दूसरा है अपः – पानी, पानी का अभिप्राय है आहार, जिसे हम ग्रहण करते हैं, इसमें वस्त्र आदि सभी वस्तुयें आती हैं । तीसरा है - प्रजा अर्थात् लोग । सतोगुण के विकास हेतु सात्त्विक लोगों से ही बात करनी चाहिए । चौथा है देश, पाँचवाँ है काल, छठा है कर्म, सातवाँ है जन्म, आठवाँ है ध्यान, नौवाँ है मन्त्र, दसवाँ है संस्कार । नौ चीजें सात्विक हैं तो हमारे चित्त में सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होंगे । भजन के पहले विघ्न लय में नींद आती है, तन्द्रा या आलस्य आता है तो संस्कार अच्छे नहीं बनते, गहरे नहीं बनते हैं । सत्संग सुन आये, कथा सुन आये किन्तु संस्कार नहीं बना क्योंकि जो संस्कार बनेगा, वह सतोगुण प्रधान होगा अर्थात् सफ़ेद धोती पर ही रंग चढ़ेगा । उदाहरण के लिए एक भक्त स्त्री थी, उसके पतिदेव कभी भी सत्संग में, कथा सुनने नहीं जाते थे । संयोग की बात है कि एक दिन उनकी पत्नी उन्हें सत्संग में ले गयी । जब भक्त स्त्री के ये पतिदेव सत्संग में पहुंचे और कथा होने लगी तो इन महाशय को नींद आने लगी जैसा कि प्रायः ही होता है । नींद आने पर कथा का संस्कार ही नहीं बनेगा । हमें नींद आ रही है, आलस्य आ रहा है तो कभी भी सत्संग का संस्कार नहीं बनेगा । अस्तु, भक्त स्त्री अपने पति को सत्संग भवन में ले गयी तो वहाँ कथा वाचक पंडितजी बड़ी सुन्दर रस की कथा कह रहे थे, उनकी कथा सुनकर बहुत से श्रोता रो रहे थे, नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहा था । उस समय भक्त स्त्री के पति सेठ जी पण्डित जी के बिल्कुल पास में ही बैठकर कथा सुन रहे थे । उनकी किराने की दुकान थी, आटा, चावल आदि दैनिक उपयोग की सभी सामग्री का विक्रय करते थे ।

अचानक ही कथा सुनते समय उनको नींद का एक झोंका सा आया और वे स्वप्न देखने लगे । स्वप्न में उन्होंने देखा कि उनकी दुकान में गाय की बछिया प्रवेश करके गुड़ खा रही है । स्वप्नावेश में ही उन्होंने बछिया को भगाने के लिए अपने बगल में रखा डंडा उठाकर प्रहार किया तो डंडा बगल में बैठे पंडितजी को लगा । पंडितजी चिल्लाये – 'अरे सेठ जी ! ये क्या कर रहे हो ?' सेठजी बोले – 'क्षमा कीजिये पण्डितजी ! मुझे कथा सुनते समय नींद आ गयी तो सपने में मैंने देखा कि एक बछिया दुकान में घुसकर खाने-पीने का सब सामान खाए जा रही है तो उसको भगाने के लिए मैंने लठिया से प्रहार किया और वह गलती से आपको लग गया ।' इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि कथा में बैठे सेठजी को कथा सुनते समय भी मन में दुकान का ही चिन्तन हो रहा था तो स्वप्न में भी वही दृश्य दिखायी दिया । इसी प्रकार लोग कथा सुनने के लिए बैठते हैं फिर भी उनके मन में खिचड़ी पकती रहती है कि मुझे यह काम करना है, मुझे अमुक व्यक्ति से मिलना है अथवा मुझे वहाँ जाना है । इसी प्रकार निद्रा, प्रमाद, आलस्य आदि के कारण कथा या भजन का संस्कार नहीं बनता है । इसे लय कहते हैं । लय का अर्थ है तन्द्रा आना, नींद का झोंका आना, आलस्य आना । उस समय एकान्त हो अथवा समाज हो, लय को दूर कर देना चाहिए क्योंकि इससे संस्कार नहीं बनेगा । लय को कैसे दूर करना चाहिए, इसे आगे बताया जायेगा । पहले भजन के विघ्न स्वरूप इन रोगों को जानना आवश्यक है । लय के पश्चात् भजन में बाधक अगला विघ्न या रोग है विक्षेप । विक्षेप का अर्थ है मन से अनेक तरह की बातों को सोचना जैसे कथा सुनते समय भी किसी मुक़दमे में फँसा व्यक्ति सोचता है कि मुक़दमे का कागजात अभी नहीं आया, कोई व्यक्ति सोचता है कि मेरी पत्नी बीमार है, उसे डॉक्टर को दिखाना है । कथा मण्डप में बैठा कोई बनिया सोचता है कि कल इस वस्तु का यह भाव था किन्तु आज सुना है कि इसका भाव चढ़ने वाला है । ये लोग कथा भी सुन रहे हैं किन्तु मन आसक्ति से जुड़ी अनेक तरह की बातों के बारे में सोचता रहता है । केवल कथा की ही बात नहीं है, माला करते, भजन करते समय भी कोई साधु सोचता है कि मुझे पंगत में जाना है । अभी १० बजे हैं, पंगत का समय तो १२ बजे का है लेकिन पंगत के एक घंटा पहले पहुँच जाना अधिक ठीक रहेगा क्योंकि कहावत है – डाल का चूका बन्दर और पंगत का चूका साधु । इस तरह विचार किया जाए तो माला पर जप भी चलता रहता है परन्तु मन भगवान् का चिन्तन न करके अनेक तरह की बातों को सोचता रहता है । इसे ही विक्षेप कहते हैं । विक्षेप का अभिप्राय है कि भक्ति के साधनों को करते हुए भी मन अनेक स्थानों पर फिंका हुआ डोलता रहता है, जिस प्रकार चौगान के खेल में गेंद इधर-उधर जाती रहती है अर्थात् मन एक जगह केन्द्रीभूत नहीं होता, इसे विक्षेप दोष कहते हैं । कषाय दोष इससे भी अधिक भयानक होता है । कषाय का अर्थ है कोई खट्टी चीज, जो चित्त को फाड़ देती है । जैसे मन में काम भाव से किसी का रूप बस गया है तो वह भजन करते समय भी उसी रूप का चिन्तन करता रहता है । काम के अतिरिक्त क्रोध द्वेष है तो यह मन को फाड़ता है ।

भजन के पहले विघ्न लय अर्थात् निद्रा-आलस्य के निवारण का यह उपाय है कि जिस समय तन्द्रा (आलस्य) हो, उस समय बैठकर भजन नहीं करना चाहिए, उस समय खड़े हो जाना चाहिए अथवा ताकि शुद्ध सात्विक मन में संस्कार बन पावे । ऐसा नहीं होना चाहिए कि तन्द्रा-आलस्य उत्पन्न होने पर भी कोई सोचे कि नहीं, हम तो एक आसन से बैठकर ही माला जप करेंगे, बैठकर ही भजन करेंगे, अब आसन पर बैठ गये तो अपने जप की संख्या पूरी करके ही उठेंगे । यह तो व्यर्थ का हठ है । लय उत्पन्न होता है तो आसन को उसी समय छोड़ दो, टहलने लग जाओ ताकि मन में चैतन्य गुण का विकास हो । मन में चैतन्य गुण का विकास ही तो सतोगुण है । यदि सतोगुण नहीं है तो फिर मन में भजन का संस्कार ही नहीं बनेगा । कोई व्यक्ति आँख बन्दकर के कीर्तन कर रहा था और बोला कि साबुन लाओ, मैं कपड़ा साफ़ करूँगा । अब वह व्यक्ति आँख बंदकर के कीर्तन कर रहा था और कपड़े पर साबुन भी घिस रहा था । इतने में उसका कपड़ा सरक गया और वह आँख बन्द किये हुए राधे-श्याम, राधे श्याम कहकर कीर्तन करते हुए धरती पर ही साबुन घिसने लगा । उसने साबुन की पूरी टिकिया घिस दी परन्तु कपड़ा तो वहाँ था ही नहीं, वह तो पत्थर पर साबुन मल रहा था । अब पत्थर तो साबुन से साफ़ होगा नहीं । साबुन का कपड़े से स्पर्श होना चाहिए । इसी प्रकार यदि हमारा मन

आलस्य और निद्रा की गोद में है और ऐसे में हम बैठकर साधन बहुत किये जा रहे हैं, माला पर खूब जप किये जा रहे हैं अथवा पाठ कर रहे हैं तो उस भजन का मन पर कोई संस्कार नहीं बन पायेगा । इसलिए लय के निवारण का यही उपाय है कि इस स्थिति में बैठकर भजन नहीं करना चाहिए, खड़े होकर, टहलते हुए भजन करना चाहिये । इसी प्रकार विक्षेप दोष में मन संसार के चिन्तन में फिंका हुआ डोलता है । इसका इलाज करने के लिए रामकृष्ण परमहंस जी ने एक बार उदाहरण दिया था कि किसी फल के बगीचे में बहुत से पक्षी फल खाने के लिए आते हैं तो उनको हटाने के लिए बाग़ का माली एक धातु का पीपा रखता है और उसको जोर से बजाकर ध्वनि उत्पन्न करता है, उसको सुनकर सभी पक्षी उड़ जाते हैं । इसी प्रकार जिस समय भजन में विक्षेप दोष आये, उस समय इन्द्रिय प्रधान साधना जैसे कीर्तन करना चाहिए, गान करना चाहिए, जोर-जोर से स्तोत्र का उच्चारण करना चाहिए, जिससे कि शब्द सुनायी पड़े, उस समय जप नहीं करना चाहिए । कीर्तन करो, गान करो और उसी का शब्द सुनो । यदि जप करने में ही रुचि है तो विक्षेप उत्पन्न होने पर नामाचार्य हरिदास ठाकुरजी की तरह जोर-जोर से बोलकर नाम का उच्चारण करना चाहिए, जिससे कि नाम की ध्वनि स्पष्ट कानों में सुनाई पड़े । सबसे बढ़िया उपाय तो यही है कि विक्षेप दोष उत्पन्न होने पर कीर्तन करो । ऐसा करने पर भजन में बाधक यह विक्षेप दोष नष्ट हो जायेगा, निश्चित नष्ट हो जायेगा ।

जब भजन में बाधक चारों दोष नष्ट हो जाते हैं तब मन में भगवान् के रूप का आविर्भाव होता है । इसके प्रमाण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत में उद्धव जी से कहा है –

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ (श्रीभागवतजी ११/१४/२६)

जब भक्त मेरी पुण्य गाथा को सुनता है तो धीरे-धीरे उसका मन साफ़ होता है और वह सूक्ष्म वस्तु का दर्शन करता है अर्थात् उसके मन में मेरे रूप का आविर्भाव होता है । जैसे-जैसे मन स्वच्छ होता है, वैसे-वैसे मन में रूप का आविर्भाव होगा ।

समत्व भाव से वास्तविक विजय

श्रीबाबा अपने जीवन की घटना सुनाते हुए बताते हैं कि जब मैं ब्रज में नया-नया ही आया था और नवयुवक ही था तो एक बार भोजन करने के उपरान्त बर्तन धोने के लिए गह्वर वन स्थित सरोवर के तट पर गया था, उसी समय वहाँ गह्वर वन में रहने वाले सिद्ध महापुरुष पण्डित हरिश्चन्द्र जी महाराज भी बर्तन धोने के लिए उपस्थित थे । मेरे ऊपर उनकी बहुत अधिक कृपा थी । मैं उन महापुरुष को देख नहीं सका क्योंकि मेरे दृष्टिपथ में वहीं निवास करने वाला एक नागा नवयुवक साधु था, जो मुझे प्रायः चिढ़ाता रहता था । जब मैं बर्तन धोने के लिए कुण्ड पर गया तो मुझे देखकर वह मल्ल युद्ध की मुद्रा में मुझ पर आघात करने के लिए अपने हाथों के द्वारा संकेत करने लगा । यह देखकर मुझे बहुत बुरा लगा और मैंने सोच लिया कि आज इसकी उद्दंडता का प्रतीकार मुझे अवश्य ही करना है क्योंकि यह मुझे प्रतिदिन ही उकसा रहा है और यदि मैं बदले में कुछ प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करूँगा तो इसकी धृष्टता बढ़ती ही जायेगी और बहुत उग्र रूप धारण कर लेगी । इसलिए मैंने संकल्प कर लिया कि आज तो इसके साथ आरपार की क्रिया मुझे करनी ही होगी । मैंने सोचा कि शीघ्र ही बर्तन स्वच्छ करके आज ही इस उद्दण्ड व्यक्ति से इसके कुत्सित उद्देश्य को लेकर मैं बात करता हूँ । मैं बर्तन शीघ्रता के साथ स्वच्छ करने लगा और मेरी दृष्टि भी क्रोधयुक्त थी । उसी समय अचानक वहाँ पधारे पण्डितजी महाराज को देखकर मैं पूर्णतया शान्त हो गया । मैंने विचार किया कि इतने बड़े महापुरुष के सामने तो मैं खल प्रकृति के व्यक्ति से उसकी दुष्टता का किसी प्रकार भी प्रतीकार नहीं करूँगा । इनके समक्ष तो शान्त रहना ही सर्वोत्तम है । अतः बर्तन साफ़ करके मैं चला गया परन्तु मैं प्रतिदिन संध्याकाल में पण्डित महाराज की कुटिया में उनके सत्संग की दृष्टि से उनकी सेवा हेतु दस मिनट के लिए जाया करता था । वे महापुरुष किसी से मिलते नहीं थे । जब मैं संध्या को उनके पास

पहुँचा तो उन्होंने मुझसे पूछा कि जब तुम दोपहर को बर्तन साफ़ कर रहे थे, उस समय तुम्हारे मन में क्या भाव थे ? मैंने उन्हें सत्य बात बता दी । पण्डितजी ने पूरी बात सुनकर मुझसे कहा कि ऐसी स्थिति में तुम भजन कैसे करोगे ? उसी समय उन्होंने मुझे गीता का एक श्लोक पढ़ाया, जो मुझे आज तक याद है, इसी को सत्संग कहते हैं ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (श्रीगीताजी ५/१९)

उन्होंने मुझे गीता का यह श्लोक सुनाकर, उसका भाव बताया कि भगवान् कहते हैं तुम सारे संसार को जीत लोगे । यदि समता में तुम्हारा मन स्थित हो जाता है तो तुम बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के, बिना किसी हथियार के सारे संसार को जीत लोगे । केवल इस संसार को नहीं अपितु अनन्त ब्रह्माण्डों पर विजय प्राप्त कर लोगे ।

यह श्लोक पण्डितजी महाराज ने मुझे पचास वर्ष पूर्व पढ़ाया था । मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरा मन पूर्णतया साम्य में स्थित हो गया परन्तु फिर भी उनके ये उपदेश, उनके वचन मेरे मस्तिष्क में टकराते रहते हैं । उनके सत्संग से मुझे बहुत लाभ हुआ कि यदि कोई तुम्हारी आलोचना करता है, विरोध करता है तो तुम्हारा उस निन्दा अथवा विरोध से कोई प्रयोजन नहीं है । उनके इस सत्संग से पहले मेरे मन में गह्वर वन में रहने वाले अपने विरोधी और उद्दण्ड व्यक्ति के प्रति अत्यधिक रोष का भाव था, ऐसा भाव था जो मेरे चित्त को फाड़ रहा था । चित्त ऐसी जगह पहुँच गया था कि नैया डूबने ही वाली थी परन्तु महापुरुष के सत्संग ने मुझे चित्त के इस दोष कषाय से बचा लिया । चित्त के इस दोष को ही कषाय कहते हैं । जिस प्रकार कोई दोषयुक्त वस्तु जैसे खट्टी चीज दूध को फाड़ देती है, उसी प्रकार कषाय के कारण चित्त में दोष एक स्थान पर बैठ जाता है, चाहे राग जनित दोष है अथवा द्वेष जनित दोष है । माया के दो परिवार हैं । एक तो राग मूलक परिवार है और दूसरा द्वेष मूलक परिवार है । संसार में अगणित दोष हैं, ये इन्हीं दोनों से बनते हैं । राग मूलक परिवार में ममता है, आसक्ति है, मन एक जगह चिपक जाता है । ये सब राग मूलक परिवार के दोष हैं । द्वेष मूलक परिवार में ईर्ष्या, असूया (दोष दृष्टि) तथा निन्दा आदि हैं । ये सब द्वेष मूलक परिवार के दोष हैं । माया के ये दो ही परिवार हैं, जिनके साथ हजारों दोष उत्पन्न हो जाते हैं । चाहे राग मूलक दोष है चाहे द्वेष मूलक, यह चित्त को फाड़ देता है, इसलिए इसे कषाय दोष कहते हैं । यह दोष भजन को नष्ट ही कर देता है । इसका प्रमाण भागवत में भी है जैसे असुर बालकों ने प्रह्लाद जी से पूछा कि तुमको इतनी अल्पायु में, इतनी शीघ्र ही इतनी बड़ी सिद्धि कैसे प्राप्त हो गयी ? विष्णु पुराण के अनुसार भी यही प्रश्न पूछे जाने पर प्रह्लादजी ने इसका सटीक उत्तर दिया है । भागवत के अनुसार भी प्रह्लाद जी के उत्तर का यही आशय है कि भजन तो सभी लोग करते हैं फिर भी उसका चमत्कार क्यों नहीं होता है ? भजन में चमत्कार कैसे हो ? प्रह्लादजी नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं –

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥ (श्रीभागवतजी ७/९/१८)

प्रह्लाद जी ने डंके की चोट पर कहा कि यदि दो बातें आ जाएँ तो भक्ति में उसी क्षण चमत्कार हो जायेगा । ये दो बातें आती नहीं हैं । लोग खूब माला जपते हैं, कीर्तन भी बहुत करते हैं, पद भी गाते हैं किन्तु ये दो बातें उनके भजन में नहीं आ पाती हैं । प्रह्लादजी कहते हैं कि मैं अपने प्रभु का गुणगान तो करता हूँ परन्तु इन दो बातों पर अधिक ध्यान देता हूँ । हे प्रभो ! आपके जिस यशोगीत को ब्रह्मा आदि देवगण गाते हैं, उसे मैं भी गाता तो अवश्य हूँ परन्तु - गुणप्रमुक्तो – गुणों से बिल्कुल छूटकर, विप्रमुक्तो – पूर्णतया गुणधर्मों को समाप्त करके आपका यश गाता हूँ । गुण अथवा गुणधर्म क्या हैं, ये हैं राग-द्वेष । प्रह्लाद जी कहते हैं कि राग-द्वेष को पूर्णतया विनष्ट करके मैं प्रभु का यश गाता हूँ । ये है पहली बात तथा दूसरी बात है - पदयुगालयहंससङ्गः – भगवान् के चरणकमलों के रसिक प्रेमी भक्तों का संग हो । एक तो गुणधर्म अर्थात् राग-द्वेष से पूर्णतया मुक्त हो जाए और दूसरे भगवान् के प्रेमी सन्तों-भक्तों का संग हो तो जीव बड़ी-बड़ी बाधाओं को, संकटों को बड़ी सहजता से पार कर जाता है और उसी समय उसके भजन में चमत्कार आ जाता है । राग-द्वेष से मुक्त होना एवं शुद्ध भक्तों का संग करना अनिवार्य है । गुणधर्म अर्थात् राग-द्वेष के कारण ही भक्ति मार्ग में अपराध होता है ।

_vickyy

RNI REFERENCE NO. 1313397- REGISTRATION NO. UP BIL-2017/72945-TITLE CODE UP BIL-04953 POSTAL REGD.NO. 093/2024-2026 श्री मान मन्दिर सेवा संस्थान के लिए प्रकाशक/मुद्रक एवं संपादक राधाकांत शास्त्री द्वारा 'गुप्ता प्रिन्टिंग प्रेस, खरौट गेट, कोसीकलाँ, मथुरा. उत्तरप्रदेश' से मुद्रित एवं मान मन्दिर सेवा संस्थान, गह्वरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित,AGRA/WPP-12/2024-2026 AT 31.12.26